प्रकाशक

श्री इन्द्रप्रस्थ विद्यापीठ

धर्मपुरा, दिल्ली

मूल्य चार आना

मुद्रक

"भारत" प्रेस,

हम्मां स्ट्रीट, दिल्ली

काव्य और अलंकार

साहित्य और काव्य—साहित्य शब्द सीमित तथा व्यापक रूप से दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। सीमित रूप में साहित्य का शब्दार्थ मनोवेगों को तरंगित करने वाली स्थायी रचनाओं से सम्बन्ध रखता है जिसके अन्तर्गत काव्य, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध आदि का समावेश है। व्यापक अर्थ में इसे अंग्रेजी के लिट-रेचर शब्द का समानार्थक मानकर समस्त ज्ञानराशि के संचित कोष के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं। जैसे—भारतेन्दु साहित्य,अंग्रेजी-साहित्य।

काव्य का प्रयोजन—कला के ललित रूपों में काव्य अपना सर्वोत्तम स्थान रखता है और इसका मुख्य प्रयोजन सहृदय व्यक्तियों को अलौकिक आनन्द प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त काव्य से यश, अर्थ, व्यवहारिक ज्ञान का लाभ एवं अकल्याण का नाश होता है। प्राचीन आचार्यों ने तो इसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति का द्वार बतलाया है। भगवान के चरणारविन्दों की स्तुति तथा जनकल्याण के उपयोगी काव्य के निर्माण से धर्म की प्राप्ति होती है। अर्थ की प्राप्ति तो इससे प्रत्यक्ष सिद्ध है। जैसे भूषण, मतिराम, बिहारी तथा पद्माकर और आधुनिक युग के महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसके द्वारा प्रचुर धनराशि का अर्जन किया। कामनाओं की प्राप्ति तो अर्थ के द्वारा हो ही सकती है और इन तीनों बातों के फल का अनुसन्धान न करने से मोक्ष की प्राप्ति भी स्वत. सिद्ध है। इसके अतिरिक्त काव्य के द्वारा अनेक कलाकार यशस्वी होते चले आये हैं। भूषण कवि ने तो यहां तक कहा हैं कि हमारी वीर रस की कविता को सुनकर मरा हुआ मनुष्य भी युद्ध-भूमि में फड़कने लगता है और शृंगार रस कविता का रसास्वादन कर रागद्वेष को जीतनेवाला मुनि भी चंचलाि

देखने के लिए विह्वल हो जाता है। ये होते हुए भी अलौकिक आनन्द की सृष्टि करना काव्य का मुख्य प्रयोजन है।

काव्य के निर्माण में क्या हेतु हैं—काव्य के निर्माण में सबसे प्रथम कारण तो कवि की कल्पना शक्ति है जो बीजरूप से कवि के हृदय में रहती है। जिसके बिना या तो काव्य का निर्माण ही सम्भव नहीं और यदा कथंचित कोई काव्य बना भी ले तो वह उपहासास्पद हो जाता है। इसके अतिरिक्त लोक, शास्त्र और काव्य ग्रन्थों के अध्ययन से जो कवि निपुणता प्राप्त करता है वह काव्य का दूसरा कारण है। परन्तु यह सब कुछ होने पर भी काव्य के विशेषज्ञों के पास जाकर काव्य निर्माण का अभ्यास करना भी अत्यन्त आवश्यक है। ये सभी सामग्री काव्य के निर्माण में हेतुभूत कही गई है। इनमें से एक का अभाव होने पर भी काव्य का निर्माण सम्भव नहीं है।

काव्य की परिभाषा—प्राचीन तथा आधुनिक आचार्यों ने अपनी अपनी मति के अनुसार काव्य की अनेक परिभाषायें दी हैं। मम्मटाचार्य ने "दोषों से रहित, गुणों से परिपूर्ण, अलंकारों से सुसज्जित शब्दार्थ की रचना" को काव्य कहा है। परन्तु इस लक्षण में काव्य के आत्मभूत रस का कोई उल्लेख नहीं है और गुण, दोष तथा अलंकार [illegible] विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य [illegible] है। [illegible] में अपना अपना मत [illegible] [illegible] हैं। [illegible] [illegible] पण्डितराज [illegible] किया है। [illegible] के प्रति- [illegible] [illegible] जीवन के [illegible] [illegible] काव्य [illegible] [illegible] अनेक भेद हैं।
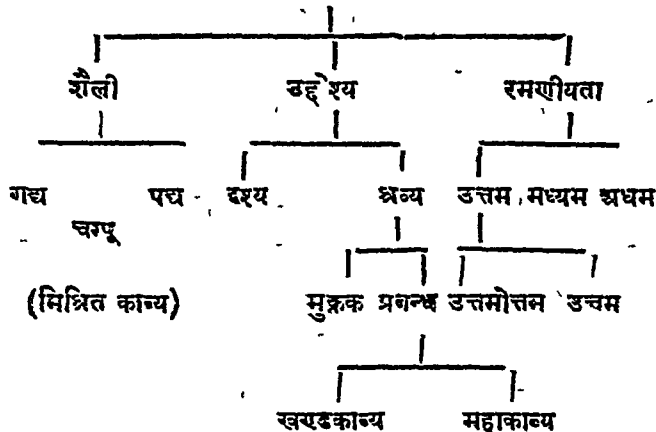
पद्य काव्य—छन्दोबद्ध कवित्व पूर्ण रचना को पद्य काव्य कहा है। इसके अन्तर्गत-काव्य, महाकाव्य खण्डकाव्य, गीति काव्य आदि समस्त कविताग्रन्थों का समावेश है। इसकी भाषा संगीतमय होती है।

गद्य काव्य—छन्दों से रहित कवित्व पूर्ण रचना को गद्य काव्य माना है। इसके क्षेत्रमें उपन्यास, कहानी, आदि की गणना है।

चम्पू—गद्य-पद्यमय चमत्कारपूर्ण रचना को चम्पू काव्य कहते हैं।

दृश्य काव्य—जो काव्य रंगमंच पर अभिनीत होकर दर्शकों का मनोरंजन करे उसे दृश्य काव्य कहते हैं। यह नाटक अथवा रूपक के द्वारा दिखाया जाता है। इसमें एक व्यक्ति दूसरेकारूप धारण करता है।

श्रव्य काव्य—जो काव्य केवल पठन-पाठन और श्रवण का विषय हों, वे श्रव्य काव्य कहलाते हैं। जैसे—'रामचरित मानस' आदि। यह काव्य भी दो भागों में बंट जाता है।

(१) मुक्तककाव्य—उन छन्दोबद्ध रचनाओं को कहते हैं जो अपने आप में पूर्ण हैं। जैसे रहीम के दोहे या सूक्तियां, मतिराम तथा बिहारी की 'सतसई' और विद्यापति की पदावली।

(२) प्रबन्धकाव्य—आदि से अन्त तक एक कथासूत्र में गुथी हुई

गया है। शब्द का लक्षण है अर्थ बोध कराने की शक्ति रखनेवाला और उसके द्वारा बोध्य पदार्थ का नाम अर्थ है। शब्द के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह एक ही अर्थ को बतलावे। अपितु एक ही शब्द एक ही वाक्य मे आया हुआ प्रसंगादि के कारण अनेक अर्थों को बतलाता है। परन्तु उसके अनेक अर्थ को बतानेवाली शक्तियां भिन्न भिन्न हैं। जिनमे (१) अभिधा (२) लक्षणा और (३) व्यंजना का उल्लेख है। इनके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ भी (१) वाच्य (२) लक्ष्य और (३) व्यंग्य रूप से तीन प्रकार का है और इन तीनों अर्थों को बतानेवाली शब्दों की तीन संज्ञायें हो जाती हैं। (१) वाचक (२) लक्षक और (३) व्यंजक।

अभिधाशक्ति—(१) शब्द के मुख्य (सांकेतिक) अर्थ को बताने वाली शक्ति का नाम अभिधा है। सांकेतिक अर्थ का अभिप्राय है-शब्द का वह प्रथम अर्थ जिसमे उसका संकेत है। जैसे—गाय, कम्बल, पुस्तक।

(२) लक्षणाशक्ति-मुख्य अर्थ का बाध होने पर उससे सम्बन्धित अन्य अर्थ को बतानेवाली शक्ति का नाम लक्षणा है। लक्षणा के मुख्य दो भेद हैं। (१) रूढा और (२) प्रयोजनवती (१) रूढि लक्षणा वहां होती है जहां कोई शब्द किसी विशेष वस्तु के लिए प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है। जैसे-'वह पढ़ाने में प्रवीण है।' यहां पर प्रवीण का अर्थ है 'प्रकृष्ट (अच्छी) वीणा वाला' परन्तु यह शब्द मुख्य अर्थ में बाधित होता हुआ भी प्रसिद्धि में अपने 'चतुर' रूप अर्थ को लिए हुए है। (१) प्रयोजनवती में वक्ता का विशेष तात्पर्य छिपा रहता है जैसे—छात्र सिंह है' इसमें जो छात्र है वह सिंह कैसे हो सकता है? अतः यहां अभिधा द्वारा प्रपितादित मुख्य अर्थ का बाध हो जाता है और लक्षणा शक्ति के द्वारा इसका अर्थ 'छात्र सिंह के समान बलशाली है इस प्रकार होता है। यहां पर छात्र को सिंह के समान साहसी बताना ही वक्ता का प्रयोजन है। अतः इस प्रकार के स्थलों में प्रयोजनवती

रहता है। जैसे–'छात्र सिंह है' इसमें सिंह पद का अर्थ जो अभिधा ने 'शेर' किया था, वह लक्षणा मे भी अपने उस अर्थ का त्याग नहीं करता। विपरीत-लक्षणा–में मुख्यार्थ से ठीक उलटा लक्ष्यार्थ लिया जाता है। जैसे–किसी अत्यन्त अपकारी के प्रति कहा जाय– मैं आपके उपकारों को कभी नहीं भूल सकता। यहां उपकारी कहने पर भी अपकारी रूप अर्थ ही लक्षित होता है।

(३) व्यञ्जना-शक्ति–जो अर्थ अभिधा और लक्षणा शक्ति से न बताया जा सके, उस प्रतीयमान तीसरे अर्थ को बताने वाली शक्ति या व्यापार का नाम व्यंजना है। व्यंजना की उद्भावना साहित्य शास्त्र की अपनी खोज है। साहित्य में इसी व्यंग्यार्थ को काव्य की रमणीयता कहा है। जैसे–'उसे लज्जा आ गई' इस बात को कहने के लिए 'उसके कपोलों पर लाली छागई' यह कथन अधिक चमत्कारी जान पड़ता है। व्यंजना के मुख्य दो भेद हैं। (१) शाब्दी और (२) आर्थी। शाब्दी में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग रहता है। जैसे-समासोक्ति अलंकार के सभी उदाहरण। जहां व्यंग्य अर्थ पर निर्भर रहता है उसे आर्थी कहा है। इसके दो भेद और हो जाते हैं (१) अभिधा मूला और (२) लक्षणामूला। अभिधामूला में वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। इसमें लक्षणा की आवश्यकता नहीं रह जाती। लक्षणामूला व्यञ्जना में लक्षणा के पश्चात अर्थ की प्रतीति होती है। जैसे–'गंगा में घर है' यहां पहले अभिधा और फिर लक्षणा के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

रसाभिव्यक्ति—रसको साहित्य शास्त्र में बहुत ऊंचा स्थान प्राप्त है। इसे काव्य की आत्मा माना जाता है। काव्य के सुनते अथवा देखने से तन्मयता की अवस्था को रसानुभूति कहते हैं और इसी आनन्द का नाम रस है। मनुष्य के हृदय में अनन्त मनोवेगों की स्थिति है और उनका जागरित हो जाना ही रसाभिव्यक्ति का रूप है।

शब्दालंकार और अर्थालंकार

अनुप्रास—बार बार उत्तम (वर्णों या शब्दों का) सन्निवेश।
स्वरों में समता न होने पर भी व्यञ्जनों या शब्दों की आवृत्ति हो।
"कल कल कोमल कुसुम कुञ्ज पर मधुबरसाने वाला कौन ?"
छेकानुप्रास—छेक=चतुर। व्यञ्जनों की एक बार आवृत्ति।
एक अथवा अनेक व्यञ्जनों की केवल एक बार आवृत्ति हो।
"सुर सरिता के तट पर तेरी, बंशी बजी मधुर मोहन।"
वृत्यनुप्रास—वृत्ति=स्वभाव। रसानुकूलवर्णों का अनेकबार प्रयोग।
एक अथवा अनेक व्यञ्जनों की अनेक बार आवृत्ति हो।
"चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही थीं जल थल में"
लाटानुप्रास—(शब्दानुप्रास) समानार्थक शब्दों की आवृत्ति।
भिन्न तात्पर्यवाले, समानार्थक शब्दों की आवृत्ति हो।
"वही मनुष्य जो मनुष्य के लिए मरे," हठ राखै, राखै नहिं प्राण।"
यमक—यम=जोड़ा, क=तरह। जोड़े की भांति शब्द आवें।
भिन्नार्थक या निरर्थक शब्दों को जोड़े की भांति आवृत्ति हो।
"कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।" 'सुगम है राम व्यर्थ है।'
पुनरुक्तवदाभास—दुबारा कहे हुए की भांति जान पड़े।
भिन्नाकारक शब्द दुबारा कहे हुए की भांति जान पड़े।
'रक्त पुष्प मंगवाइए लाल, सुमन से अविलम्ब' 'अलि भौंर गूंजन लगे।'
श्लेष—मिला हुआ। एक शब्द के अनेक अर्थ हों।
एक शब्द के योग से अनेक अर्थों की प्रतीति हो।
"जो पूतना मारण में सुदक्ष, विपक्ष बकोदर को विलक्ष।"
वक्रोक्ति—वक्र=टेढ़ी, उक्ति=बात। वक्ता के अर्थ से विपरीत कथन॥
वक्ता कुछ कहे और श्रोता जान बूझ कर उसका टेढ़ा उत्तर दे।
"को तुम माधव हौं प्रिये! नहिं बसन्त-सो काज।"
अर्थालंकार—उपमा—उप=समीप, मा=मापना, तोलना।
उपमेय और उपमान की समानधर्म से तुलना की जाय।
'उसी तपस्वी से लम्बे थे देवदारु दो चार खड़े।' छात्र सिंह सा है बलवान

द्वितीय प्रतीप—उपमेय की अद्वितीयता का उपमान से खण्डन हो।
उपमेय की अद्वितीयता का खण्डन उपमान के द्वारा कराया जाय।
"काह गर्व काश्मीर तोहि, नन्दन वन है श्रेष्ठ।"
तृतीय प्रतीप—उपमान की अद्वितीयता का उपमेय से खण्डन हो।
उपमान की अद्वितीयता का खण्डन उपमेय के द्वारा कराया जाय।
'तीक्ष्ण नयन कटाक्ष से मन्दकाम के बाण' 'पवि से कठिन दुष्ट के बैन।'
चतुर्थ प्रतीप—उपमेय से उपमान की तुलना करके फिर खण्डन हो।
उपमेय से उपमान की तुलना करके उसे फिर असत्य कहा जाय।
"तेरा मुख है चन्द्र-सम, पर यह झूठी बात।" दांतों से मोती न थे।
पञ्चम प्रतीप—उपमेय के सामने उपमान की निष्फलता कहें।
उपमेय के सामने उपमान की निष्फलता सिद्ध की जाय।
'मुख से विश्व प्रकाशित होता, फिर क्या काम चन्द्रमा का।
व्यतिरेक—उत्कर्ष,बड़ाई। उपमेय का उत्कर्ष बताया जाय।
उपमेय को उपमान से बढ़ा कर या उपमान को घटा कर बताया जाय।
"साधु उच्च हैं शैल सम, किन्तु प्रकृति सुकुमार।" 'संतश्रेष्ठ नवनीत से।'
स्मरण—याद आना, कुछ देख या सुन कर अतीत का स्मरण हो।
किसी वस्तु को देखने या सुनने से अतीत का स्मरण हो।
"उत्तरदिशा से उत्तराकी याद आई।" 'वारिद देखि कृष्ण सुधि आई'
रूपक—रूप की भांति। उपमेय उपमान का रूप धारण कर ले।
उपमेय (छात्र) में उपमान (सिंह) का आरोप (तद्बुद्धि) हो।
"कृषक-तपस्वी तप करते हैं, श्रम से स्वेदित तन" 'मुख चन्द लसै'।
अभेद रूपक—उपमेय-उपमान में भेद न हो। भेद रहित आरोप।
उपमेय में उपमान का भेद रहित आरोप (तद्बुद्धि) हो।
"मन मिलिन्द मुनि वृन्द के, मचल मचल इस पर गये।"
तद्रूप-रूपक—उसके रूप का आरोप हो। भेद वाचक पद हों।
उपमेय में उपमान का भेद वाचक पद होने पर भी आरोप हो।
"छात्र दूसरा बृहस्पति, विद्या-बुद्धि निकेत।" "छात्र दूसरा सिंह है।"

छेकापह्नुति—प्रगट हुई सच्ची बात को चतुराई से छिपाना।
जहां कोई बात प्रकट हो जाय और उसे चतुराई से छिपाया जाय।
"सर्वनाश का मूल यह, हिटलर? नहिं सखि काल"
कैतवापह्नुति—छल, मिस, व्याज आदि पदों से छिपाना।
छल, मिस, व्याज आदि पदों से उपमेय को छिपाया जाय।
"शरद चांदनी के मिस विधु ने अपना जाल बिछाया था।"
संदेह—यह है अथवा वह है इसका निश्चय न हो सके।
प्रकृत वस्तु में अप्रकृत वस्तु का सन्देह (अनिश्चयात्मक) ज्ञान हो,
"यह मुख या चन्द्रा सखि, अलकें या घनश्याम।"
भ्रान्तिमान—प्रकृत वस्तु में अप्रकृत वस्तु के भ्रम का होना।
प्रकृत वस्तु में अप्रकृत वस्तु का भ्रम हो, रस्सी को सांप समझें,
"अन्धकार में परछाईं को, भूत समझकर हुआ अचेत।"
उत्प्रेक्षा—बल पूर्वक प्रस्तुत में अप्रस्तुत की सम्भावना हो।
प्रस्तुत में अप्रस्तुत की (भेद ज्ञान होने पर भी) बल पूर्वक सम्भावना हो,
"गोरे मुख पर कारी चुनरी, मनो मेघ में चन्द उदय।"
वस्तूत्प्रेक्षा—प्रकृत वस्तु मे अप्रकृत वस्तु की सम्भावना।
प्रकृत वस्तु (उपमेय) में अप्रकृत वस्तु (उपमान) की सम्भावना हो।
"मुख मानो है चन्द्र।" "नयन मनहु पंकज अहैं।"
हेतूत्प्रेक्षा—हेतु-पूर्वक सम्भावना, अहेतु में हेतु की कल्पना।
जहां वास्तविक हेतु न होने पर भी हेतु की सम्भावना की जाय।
"अरुण भये कोमल चरण, भुवि चलिबे ते मानु।"
फलोत्प्रेक्षा—फल से सम्भावना। अफल में फल की कल्पना।
जहां वास्तविक फल न होने पर भी फल की सम्भावना की जाय।
"लम्बा होता ताड का वृक्ष जाता, मानो नभ छूना चाहता शीघ्र ही है।
लुप्तोत्प्रेक्षा—लुप्त हो जायं, उत्प्रेक्षावाचक-मनु, जनु आदि पद।
अन्य सामग्री होने पर भी उत्प्रेक्षा बाचक शब्द न हो।
"लतिका यौवन में मदमाती, लज्जा से झुक झुक जाती।"

दीपक—दीवे की भांति। उपमेय उपमान दोनों का एक धर्म हो।
उपमेय-उपमान का धर्म, क्रिया या विशेषण द्वारा एक बार कहें।
"सतीनारि निश्चलप्रकृति, परलोकहु संग जात।
प्रतिवस्तूपमा—प्रत्येक वाक्य में एक धर्म का होना पाया जाय।
उपमेय-उपमान के-से वाक्यों में भिन्न २ शब्दों द्वारा एक धर्म कहें।
"शोभित होता सूर्य तेज से, लसता धनुष बाण से सूर।"
दृष्टान्त—उपमेय और उपमान में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो।
उपमेय और उपमान वाक्यों में साधारण धर्म का प्रतिबिम्ब भाव हो।
'केवल है उपदेश वृथा सब, भूख मिटे मन-मोदक से कब।"
निदर्शना—उपात्त अर्थों का अभेद और फल सादृश्य हो।
फल की समानता के कारण, अर्थ भिन्न होते हुए भी समता कही जाय।
"जो मूरख को समझाते हैं, वे बालू से तेल चाहते।"
अर्थ श्लेष—अर्थ में मिलावट, एक अर्थ दो पक्षों में बटे।
जब वाक्य के एकार्थक शब्द ही अनेक पक्षों में घट जायं,
"तनिक भार सों घटि बढ़ें, तुला कोटि अरु दुष्ट जन।"
समासोक्ति—सक्षेप से कथन। विशेषण द्वारा अप्रस्तुत का कथन।
प्रस्तुत के वर्णन में समानार्थक विशेषण पदों से अप्रस्तुत का कथन हो।
"कुमुदनी हूं प्रमुदित भई, सांझ-कलानिधि जोय।"
अप्रस्तुत प्रशंसा—अप्रस्तुत के वर्णन में प्रस्तुत का कथन।
जहां अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत अर्थ का वर्णन किया जाय।
चाहे सूखा पड़े विश्व में, हंस न पीता गड्ढों का जल।',
विरोधाभास—जाति, द्रव्य, गुण क्रिया में विरोध सा ज्ञान पड़े।
दो पदार्थों में विरोध न होने पर भी विरोध-सा जान पड़े।
"कटुता में मिठास पाती हूं, दिव्य अमृत में गरल मिला है।"
विभावना—कारण के बिना कार्य या विरुद्ध कारण से कार्य हो।
कारण के अभाव में या विरुद्ध कारण से कार्य हो।
"बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करे स्वभाव।"

विनोक्ति—बिना पद के द्वारा किसी की रमणीयता, अरमणीयता कहे।
बिना रहित आदि शब्दों से किसी वस्तु को सुन्दर या असुन्दर कहें।
"जिय बिनु देह, नदी बिनु बारी, तैसेइ नाथ पुरुष बिनु नारी।"

पर्यायोक्ति—हेर फेर के साथ विवक्षित अर्थ का कथन हो।
विवक्षित अर्थ का हेर फेर के साथ चमत्कारिक ढंग से वर्णन हो।
"मातु पितहि जनि शोच वश, करहि महीप किशोर।"

व्याज स्तुति—बहाने से स्तुति में निन्दा और निंदा में स्तुति हो।
जहां स्तुति के बहाने से निंदा और निंदा के बहाने से स्तुति हो।
'दुष्टों को शिव करके गंगा, क्यों यह बुरा काम करती हो।"

अर्थापत्ति—वर्णनीय अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति का वर्णन हो।
जहां एक अर्थ के वर्णन से अन्य अर्थ का स्वतः होना कहा जाय।
"तुमने मारा सिंह को, फिर गीदड़ की क्या बात चले।"

क्रम—(यथासंख्य) क्रम=सिलसिले से अन्वय किया जाय।
जिस क्रम से पदार्थों का वर्णन हो, उसी क्रम से अन्वय किया जाय।
"अमी, हलाहल, मद भरे; स्वेत, श्याम, रतनार।"

तद्गुण—एक वस्तु अन्य वस्तु के गुण ग्रहण करले।
जहां कोई वस्तु अपने गुणों को छोड़कर अन्यके गुण ग्रहण करे।
"मुक्ता ले कर में करति तू मूंगे का मोल" 'स्मिति-से नीलम बना मोती'

परिसंख्या—अन्य स्थानों से निषेध कर किसी बात को एक जगह कहें।
सामान्य-रूप से प्राप्त अर्थ का किसी विशेष कारण से निषेध किया जाय
"पावस ही में धनुष अब, सरित तीर ही तीर" 'रोदन में लाज हास'।

प्राचीन और नवीन

(श्री दशरथ ओझा, अध्या०१५८)

प्राचीन नाटकों का इतिहास—अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि ईसा से कम से कम १ हजार वर्ष पूर्व हमारे देश में नाटकों का यथेष्ट प्रचार था और ईसा से ५०० वर्ष पहले यहाँ की नाट्य-कला इतनी उन्नत हो चुकी थी कि उसके सम्बन्ध में अनेक लक्षण ग्रन्थ भी बन गए थे। भरत मुनि का जन्म ईसा से पूर्व पाँचवीं शताब्दी माना जाता है और ये नाट्य शास्त्र के आचार्य माने जाते हैं। इस के अतिरिक्त ट्रावनकोर में भास के कई नाटकों के मिलने तथा मध्य एशिया में बौद्धकालीन अनेक खण्डित नाटकों की हस्त लिखित प्रतियों के प्राप्त होने से इस बात की पुष्टि हो चुकी है कि कालीदास के पूर्व हमारी नाट्य-कला भली प्रकार विकसित हो चुकी थी।

नाट्य शास्त्रके आचार्यों ने अति सूक्ष्म दृष्टि से नाट्यकला का निरीक्षण तथा पर्यावेक्षण किया था। उन्होंने अर्थ प्रकृति अथवा संधियों तथा प्रवृत्तियों के भेदों का वर्णन बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार कालीदास, हर्ष, शूद्रक, भवभूति, *भट्टनारायण, विशाखदत्त, राजशेखर,* आदि ने दसवीं *शताब्दी* तक नाट्य शास्त्र के नियमों का सुचारु-रूप से निर्वाह किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी के उपरान्त लिखे गये नाटकों के नियम-पालन में शैथिल्य आने लगा। संभवतः नाट्यकारों की स्वतन्त्र मनो-वृत्ति देखकर ही धनंजय को दशरूपक नामक प्रसिद्ध लक्षण ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यद्यपि १० वीं तथा १२ वीं के

था। भारतेन्दु बाबू तो वास्तव में इस युग की नाट्य-कला के संस्थापक ही हुए। राजा लक्ष्मण सिंह ने शकुन्तला का अच्छा अनुवाद किया।

भारतेन्दु बाबू के समय में अंग्रेजी राज्य का पूर्ण आधिपत्य जम चुका था। हमारे देश के साहित्य का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ रहा था। भारतेन्दु जी प्रतिभाशाली थे उन्होंने हिंदी साहित्य के द्वार को इतना ही खोलने दिया जिससे पश्चिमी साहित्य की आवश्यक सामग्री अन्दर आसके। उन्होंने भारतीय संस्कृति में उस सामग्री को रंग डाला और नाटकों मे भारतीयता की रक्षा करते हुए अंग्रेजी भाषा के सद्गुणों को अपना लिया। इसी कारण उनके नाटकों में सूत्रधार और नटी के साथ २ राष्ट्रीयता तथा नवीनता का भाव भी प्राप्त होता है। यद्यपि उनके नाटकों में अर्थ प्रकृति, अवस्थाओं, संधियों तथा वृत्तियों का निर्वाह पूर्णरूप से नहीं हुआ है, तथापि उनके नाटकों पर भारतीयता की छाप पूर्णरूप से पडी है। उन्होंने पूर्वीय और पश्चिमी नाट्य-कलाओं का सम्मिश्रण सुचारु रूप से किया है।

भारतेन्दुजी के नाटकों मे जिस पथ का अनुसन्धान किया था उसी पर उन के युग के नाटककार चलते रहे। जिन में ला० श्रीनिवासदास का रणधीर' 'प्रेममोहिनी' प० बद्रीनाथ चौधरी का 'भारत सौभाग्य' बाबू तोताराम कृत 'केटो वृत्तान्त' अम्बिकादत्त व्यास कृत 'ललिता' 'वेणी सहार' और 'गो संकट' आदि प्रसिद्ध है। बाबू राधाकृष्ण दास के महाराणा प्रताप का भी विशेष आदर हुआ है।

अनुवादित नाटक—रायबहादुर ला० सीताराम ने उत्तर रामचरित आदि कतिपय संस्कृत नाटकों का अनुवाद हिंदी में किया। पं० सत्यनारायण ने 'मालती माधव' और 'उत्तर रामचरित' का अति सुंदर अनुवाद किया। तदुपरांत श्रीयुत द्विजेंद्रलाल राय तथा गिरीश घोष के बंगला नाटकों के हिंदी अनुवादों की धूम मच गई। इसके

मार्ग दिखाया है। आपका विचार है कि संस्कृत के नाटकों का अनुवाद खड़ी बोली में इस रूप में होना चाहिए, जिससे नाटककार के हृदय के भाव बोल-चाल की भाषा में सफाई से व्यक्त किये जायँ।

अन्य भाषाओं का हिन्दी नाटकों पर प्रभाव—इब्सन और बर्नार्डशा का प्रभाव हिन्दी नाटकों पर पड़ना अवश्यम्भावी था। पं० लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटकों में यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। पश्चिमीय नाटककार रस को प्रधानता नहीं देते। वे समाज की वास्तविक स्थिति को जनता के सम्मुख रखकर चरित्र-चित्रण पर ही विशेष जोर देते हैं। आज कल जैसे सामाजिक और राष्ट्रीय-तत्वों ने साहित्य में अपना स्थान जमा लिया है, उसी प्रकार वैज्ञानिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक-तत्व भी साहित्य के अंगीभूत हो रहे हैं। अब रस और तत्व का सम्मिलन हो गया है।

आज इंगलैंड में बर्नार्डशा की धूम मची है। उन के नाटकों में मनोविज्ञान की प्रधानता पाई जाती है। वे मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण करना खूब जानते हैं। सम्भवतः पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र और प० गोविन्द वल्लभ पन्त के ऊपर आधुनिक विदेशीय नाटककारों का प्रभाव पड़ा है। हिन्दी में भी अंगरेजी ढंग के नाटक लिखे जा रहे हैं। 'सिन्दूर की होली' नामक नाटक इसका अच्छा प्रमाण है। इसमें विधवा-विवाह की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। एक विधवा कहती है "विधवा-विवाह से वैधव्य तो मिटा नहीं, उलटे तलाक की समस्या और खड़ी हो गई है।" प० लक्ष्मीनारायण जी के कई नाटक इसी ढंग के हैं।

सेठ गोविन्ददास का 'नवरस' और पं० भगवती प्रसाद वाजपेयी का 'छलना' नये ढंग के नाटक हैं। 'प्रसाद' जी का 'कामना' नाटक हिन्दी में बहुत पहले प्रकाशित हो चुका था, जिसमें मनुष्य के आन्त-

पौने घंटे में सरलता से किया जा सके और एक नाटक का सम्पूर्ण अभिनय देख कर जनता का मनोरंजन भी हो। इस ओर कई महानुभावों का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था। आज कल प्रायः सभी उच्चकोटि के पत्रों में एकाङ्की नाटक छपते रहते है। श्री राम कुमार वर्मा के एकाङ्की नाटकों का संग्रह "पृथ्वीराज की आंखें" नाम से प्रकाशित हुआ है। पं० उदयशंकर भट्ट के नाटकों का भी एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। एकाङ्की नाटकों के लिखने मे श्री गोविंद वल्लभ पंत, श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' श्री रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' श्री सियारामशरण गुप्त ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की हैं। यह है हमारे नाटकों की संक्षिप्त गाथा।

छाया चित्र—छाया चित्रों के प्रचार से भी हिन्दी नाटकों को एक दैवी प्रोत्साहन मिला है इस सम्बंध में भी हिन्दी के नाटककारों का उद्योग गौरवशाली है। इस प्रकार नित नये नाटककार जनता के सामने आते हैं। नाटक की अपेक्षा सिनेमा का महत्व कम होने पर भी आज हमारे लिए वह विशेष स्थान रखता है। नाटक की दृश्यावली पर्दे पर चित्रित रहती है जो अस्वाभविक सी जान पडती है। इसके विपरीत छाया-चित्र में हम उन सभी दृश्यों को उनके स्वाभाविक रूप में देख सकते हैं। अभिनय के दृष्टिकोण से भी छायाचित्र का आनन्द सभी को समान रूप से मिल सकता है। यद्यपि एक बार नाटक खेलने पर जो उसमें कमियाँ रह जाती हैं, वे दुबारा पूरी की जा सकती हैं तथापि छायाचित्र जैसी स्थिरता न होने के कारण बार २ उसके लिए सारा आडम्बर जुटाने में काफी व्यय और परिश्रम होता है। फिर नाटककार उतने अच्छे दृश्य भी नहीं दिखा सकता जितने कि 'चल चित्र' द्वारा दिखाये जा सकते हैं।

हिन्दी गद्य का विकास

(श्री रामकृष्ण 'भारत' शास्त्री, साहित्य-रत्न)

प्रत्येक जाति के विकास मे उसके साहित्य का उल्लेखनीय स्थान है। एक प्रकार से हम साहित्य को जनता के विचारो का प्रतिविम्ब कह सकते हैं। समय-समय पर महापुरुषो और विद्वानों ने जो जो अनुभव किये और जो कुछ सोचा तथा समझा, उन्हीं लेखबद्ध विचारों के समूह को साहित्य का नाम दिया जाता है।

प्रत्येक जाति के साहित्य के दो प्रमुख विभाग किये गये हैं- (१) गद्य और (२) पद्य। प्रत्येक भाषा के साहित्य का आरम्भ पद्य से होता है। आगे जाकर जनता की आवश्यकता और व्यवहारिकता के साथ साथ गद्य की भी आवश्यकता होती है। संस्कृत अंग्रेजी आदि सभी साहित्यो में यही बात देखने को मिलती है। हिन्दी के साहित्य का आरम्भ भी पद्य से हुआ है। वीरगाथा काल तथा उससे पूर्व उपलब्ध फुटकर कवियो के काव्यो में हिन्दी के प्राचीनतम रूप अपभ्रंश के नमूने मिलते है। हिन्दी-साहित्य के चार मुख्य भाग किये जाते हैं—(१) वीरगाथा काल (२) भक्तिकाल (३) रीतिकाल-तथा (४) आधुनिक-काल (गद्यकाल)

प्रारम्भिक तीन विभागों में हिन्दी का साहित्य प्रायः पद्यमय ही उपलब्ध होता है। इन कालों के नामकरण भी इसी यथार्थता को सिद्ध करते हैं। हिन्दी के आधुनिक काल को गद्यकाल कहते हैं क्योंकि इस काल की विशेषता गद्य ही है। हिन्दी-साहित्य में गद्य का आविर्भाव पद्य के आविर्भाव काल के आस पास ही हुआ होगा,

श्री गोकुलनाथ जी का समय १६वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है।

इसी समय मे तथा इसके आस पास के कई फुटकर कवियों तथा महात्माओं के गद्य के नमूने उपलब्ध होते हैं। इन मे से श्री विट्ठलनाथ जी की " शृंगार रसमण्डन " पुस्तक का उल्लेख विद्वानों ने किया है। इसके अतिरिक्त सर्वश्री नाभा, तुलसी, देव, बनारसीदास, सुरतिमिश्र, भिखारी दास आदि कवियो के भी कुछ गद्यांश मिलते हैं। इसी समय कुछ लोगो ने टीकायें भी लिखीं, जिन में किशोरीदास तथा जानकीप्रसाद के नाम उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थों मे जिस गद्य का उल्लेख किया गया है उसे एक शब्द मे ब्रजभाषा गद्य कहना अधिक उपयुक्त होगा।

कविता की भाषा में समय के साथ साथ परिवर्तन होता जा रहा था। वीरगाथा काल में अपभ्रंश और भक्तिकाल मे ब्रज तथा अवधी ने भी भाषा का स्थान लिया, किन्तु खुसरो और कबीर की भाषा में खड़ी बोली का पुट स्पष्ट दीखता है। इस खड़ी बोली का प्रभाव आगे जाकर गद्य मे भी अभिव्यक्त होता है। जटमल नामक लेखक ने 'गोरा बादल की कथा' में खड़ी बोली के गद्य का ही प्रयोग किया है। इसी समय अकबर के दरबारी कवि गंग द्वारा 'चन्द छन्द वर्णन, का उल्लेख आता है। इस की भाषा भी खड़ी बोली का पुट लिए हुए है।

हिन्दी-गद्य के विकास में १६ वीं शताब्दी सदा के लिये स्मरणीय रहेगी। वैसे तो 'ईस्टइण्डिया कम्पनी' की स्थापना के साथ ही किसी ऐसी भाषा की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। किन्तु १६ वीं शताब्दी के आरम्भ तक किसी प्रकार से काम चलता रहा। फोर्ट विलियम कालेज कलकत्ता के स्थापित होजाने पर इस ओर विशेष ध्यान दिया गया और जान गिलक्राइस्ट की प्रेरणा पर कालेज में

हिन्दी-गद्य की परम्परा-सी चल पड़ी। अंग्रेजी राज्य के साथ साथ ईसाई मिश्नरी भी इस देश में आये और उन्होंने धर्म प्रचार के लिए सिरामपुर में एक प्रेस भी खोला और अपने धर्मग्रन्थों के अनुवादादि इसी भाषा में छपवा कर जनता में वितरित किये।

इसी समय दो प्रमुख लेखक हमारे सामने आए। राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह। राजा शिवप्रसाद शिक्षा विभाग के इन्सपैक्टर थे और राजा लक्ष्मण सिंह ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से एक अच्छे पद पर नियुक्त थे। शिक्षा-विभाग में मुसलमानों के प्रभुत्व के कारण राजा शिवप्रसाद कुछ चौंके से रहते थे। वह हृदय से हिन्दी के हितैषी थे। उन्होंने हिन्दी में एक पत्र 'बनारस अखबार' भी निकाला। किन्तु उसकी भाषा इतनी क्लिष्ट उर्दू थी, जिसे हिन्दी कहते हुए संकोच होता है। इस प्रकार राजा साहब ने नागरी अक्षरों में उर्दू भाषा को प्रचारित किया। दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह ने शुद्ध हिन्दी को अपनाया। उन्होंने कालीदास के 'अभिज्ञान शकुन्तल' का जो अनुवाद हिन्दी में किया, उस की भाषा इस बात का प्रमाण है कि उनका दृष्टिकोण कितना सुलझा हुआ था। वे शुद्ध हिन्दी के ही पक्षपाती थे।

इस प्रकार हमारे गद्य में मुख्य रूप से दो प्रमुख धारायें हो गईं। एक उर्दू मिश्रित, दूसरी शुद्ध हिन्दी। इसी समय स्वामी दयानन्द ने आर्य-समाज की स्थापना के साथ हिन्दी-प्रचार में काफी सहायता प्रदान की। उनकी भाषा तत्सम हिन्दी है। इनके अतिरिक्त विभिन्न धर्माचार्यों ने इस सम्बन्ध में, हिन्दी-भाषा के प्रचार में सहयोग दिया।

अव्यवस्था की इस दशा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हमारे सामने आये। इतनी थोड़ी आयु पाकर भी आप हिन्दी-साहित्य को जो कुछ दे गये, उसे देख कर सचमुच आश्चर्य होता है। उन्होंने शुद्ध हिन्दी को अपनाकर गद्य की विभिन्न शैलियों का सूत्रपात किया, जिन्हें हम भावेश,

'सरस्वती' का क्षेत्र भी मिल गया। १८ वर्षों तक लगातार सरस्वती का सम्पादन करके आपने इस ओर विशेष ध्यान दिया। भाषा-संस्कार तथा उसे व्याकरण सम्मत करने में उन्होंने विशेष रूप मे प्रगति दिखाई। वे सचमुच आचार्य थे। उन्होंने अपने जीवन-काल में न जाने कितने लेखक तैयार किये। श्री मैथिली शरण गुप्त इनको इसी पीढ़ी के के उज्ज्वल रत्न हैं।

आचार्य द्विवेदी जी ने जो अन्य उल्लेखनीय कार्य किया, उसे हम शैलीकार का कार्य कहते हैं। उन्होंने विभिन्न शैलियों को व्यवस्थित तथा मर्यादित किया। भारतेन्दु द्वारा प्रचारित तीन शैलियाँ-भावावेश, तथ्यनिरूपण तथा विचार-पूर्णता को आपने फिर से, मर्यादित तथा स्थिर किया।

द्विवेदी जी के समय में ही कुछ लेखक ऐसे प्रकाश में आये, जिन्होंने हमारे गद्य-साहित्य मे नवजीवन का संचार किया। मुन्शी प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद ने हिन्दी के उपन्यास कहानी तथा नाटक साहित्य मे क्रान्ति उत्पन्न की है वह हिन्दी साहित्य में सदा के लिए स्मरणीय रहेगी। कविता, नाटक, उपन्यास, गद्य, अनुवाद, कहानी तथा पत्र-पत्रिकाओं ने सभी दिशा मे साहित्य को समृद्ध किया है।

पुस्तक रचना के अतिरिक्त पत्र पत्रिकाओं ने भी हिन्दी-गद्य के विकास मे अपना पर्याप्त सहयोग प्रदान किया है। राजनीति सामाजिक व्यवस्था अनुछटा, पर्व, त्यौहार, जीवन-चरित, आलोचना तथा इसी प्रकार से हिन्दी गद्य को परिष्कृत और समृद्ध करने वाले लेखों ने समय समय पर साहित्य को गति प्रदान की है। आलोचना तथा उच्च कोटि के निबन्ध लेखकों का भी गद्य के परिमार्जन में पर्याप्त सहयोग है। ठाकुर जगमोहन दास एक माधुर्यपूर्ण गद्य लेखक के रूप मे भी हमारे सामने आते हैं। पं० अम्बिका दत्त व्यास ने

कामायनी में वैज्ञानिकता

(श्री लक्ष्मीकान्त 'मुक्त' साहित्यरत्न)

स्व० महाकवि प्रसादने अपने 'कामायनी' महाकाव्य में मनु की शासन-व्यवस्था और वैज्ञानिक उन्नति पर भी प्रकाश डाला है। जिसका विवेचन करने से वर्तमान युग की बहुत सी समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। श्रद्धा-हीन मनु जब बुद्धि की ओर दौड़ते हैं तो सारस्वत नगर की रानी इड़ा उन्हें बुद्धि के रूप में प्राप्त होती है। बुद्धि की शरण मिलते ही उनके सारे विकल्प संकल्प बन जाते हैं और वे सुख के साधनों का द्वार खोलने के लिये कर्म-मार्ग में जुट जाते हैं। सारस्वत नगर का शासन उनके हाथ में लेते ही वहां की श्री निखर उठती है तथा प्रजा अपने सारे दुःखों को भूल जाती है। वहां की जनता को मनु का आगमन दैवीशक्ति के समान प्रतीत होता है। क्योंकि प्रलय काल से लेकर मनु के वहाँ पहुँचने तक वहां की राज्य-व्यवस्था अस्त व्यस्त थी और मनु ने वैज्ञानिक साधन जुटाकर कर वहां सुख के सब सामान इकट्ठे कर दिये थे। जिस ढंग से प्रसाद जी ने मनु के बसाये हुए इस नगर का वर्णन किया है उसे पढ़ने से विदित होता है कि उसकी छटा वर्तमान समय के किसी उन्नतिशील नगर से कम नहीं थी। राजमहल पर प्रहरियों का पहरा रहता था तथा ऊँचे-ऊँचे स्तंभों पर रम्य प्रासादों का निर्माण किया गया था, जो आलोकशिखा (बिजली) के प्रकाश-पुंज से जाज्वल्यमान किये जाते थे। महलों के निकट ही सुन्दर २ उद्यान (पार्क) निर्मित थे, जिनमें दम्पति प्यार से भर कर गलबाहीं डाले विचरण किया करते थे। उनके पास वर्षा, धूप और शिशिर से बचने के सारे साधन थे। वहाँ के प्राणी अपने २

प्रणय के मोती चुगने वाली हंसनी बनाना चाहा। क्यों कि विज्ञान द्वारा जुटाये हुए सुख के साधनों से उन्मादित मन तथा शिथिलित काया का परिणाम और हो ही क्या सकता था। वासना की उन रूप-हली रातों में एक दिन मनु का नर-पशु हुँकार कर उठा, उन्होंने इड़ा से बलात्कार करने की ठानी। इड़ा का यह बलात्कार था, बुद्धि का दुरुपयोग और प्रजापति का घोर अत्याचार, जिसका परिणाम हुआ संघर्ष। प्रजापति के अत्याचारी होते ही सारी देवशक्तियाँ कुपित हो गईं, शिव के धनुष पर प्रत्यंचा चढ़गई, सारे जीव कांप उठे और प्राणियों में स्नेह का नाता छिन्न भिन्न हो गया। जनता की रक्षा का भार लेने-वाला शासन डगमगाने लगा। राजद्वार पर आई हुई भयभीत प्रजा को मिला घोर अपमान और अपनी रानी इड़ा का पीला मुख, जिसे देख कर वे क्षुब्ध हो उठे और उनका धैर्य छूट गया।

उधर अपने उद्देश्य में असफल मनु शयन पर पड़े हुए अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क में उलझे हुए थे। क्रोध और शंका के कीटाणु उन्हें बार-बार नोच रहे थे। शासक होने के नाते स्वच्छन्द-विचरने का भाव उन्हें पीड़ित कर रहा था। बुद्धि-बल से निर्मित राजनियमों का बंधन उन्हें अखरने लगा। इड़ा की नियम-प्रणाली उनके सामने परतंत्रता की बेड़ी बन कर आई, जिसे तोड़ने के लिये वे क्रोधित हो उठे। यह विश्व किसी नियम में बंधा हुआ है, इस विचार को उन्होंने ठुकरा दिया और बड़ी खत्तेजना के साथ कहा—

मैं चिर बंधन हीन मृत्यु सीमा उल्लंघन,
करता सतत चलूंगा यह मेरा है दृढ़ प्रण।

सहसा उनका प्रगतिशील मन का रुका और उन्होंने इड़ा को यह कहते हुए सुना—

………किंतु नियामक नियम न जाने,
तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ सा निश्चय जाने।

उसी समय सिंह द्वार पर एकत्रित प्रजा ने फाटक तोड़ दिया और अपनी रानी की जय घोष करती हुई उनकी भीड़ अन्दर प्रविष्ट हो गई। इस आकस्मिक बाधा को देख कर मनु सजग हुये और राज दंड हाथ में संभाल कर प्रजाको ललकारने लगे। अपने किये उपकारों का निहोरा देते हुये उन्होंने कहा—मैंने तुम्हारे लिये प्रकृति के सारे सुख एकत्रित किये हैं, मैंने तुम्हें गूंगो से वाचाल और जंगलियों से सभ्य बनाया है। क्या तुम मेरा सारा उपकार भूल गये ? किन्तु प्रजा उसके पापकर्म को पहले ही निरख चुकी थी, वैज्ञानिक साधनों से उसकी प्राकृतिक शक्ति का कितना ह्रास हुआ है ? यह अनुभव भी उसने कर लिया था। सभ्य बनकर उन्होंने क्या सीखा है ? वे इसको भी पहिचानने लगे थे। अतः उन्होने निर्भीकता के साथ उत्तर दिया—

प्रकृत शक्ति तुमने, यन्त्रों से सबकी छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।
हम संवेदनशील हो चले, यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख।
आज वदिनी मेरी रानी इड़ा यहां है,
ओ यायावर! अब तेरा निस्तार कहाँ है ?

प्रजा का यह उत्तर सुनते ही मनु ने रणघोष किया तथा वे जीवन के उस भीषण युद्ध में टूट पड़े। मदान्ध शासक का यह युद्ध अपनी निरीह प्रजा, प्रकृति, देवशक्तियों और शिव के साथ था। भला इस में उसकी विजय कहाँ सम्भव थी। किन्तु फिर भी वह बुद्धि के बल पर अपनी विरोधी शक्तियों का साहस के साथ सामना करता रहा। अन्त में बुद्धि के सारे बन्धन ढीले पड़ गये। अग्निचक्र का रूप धारण कर लेने पर भी मनु विश्व से शिव (कल्याण भाव) को नष्ट न कर सके। यदि उन्होंने धराशायी किया भी तो आकुली और किलात को जो अशिव के प्रतीक थे। उसी समय मनु को भौतिक सुखों के संघर्ष में

कि संसार के सारे प्राणी भविष्य की चिन्ता में अपने वर्तमान का सुख छोड़े हुए भटक रहे हैं और अपने मार्ग में स्वयं ही रोड़े डाल रहे हैं। यह सोचती २ वह इस उलझन में फंस गई कि मैं यहां पर मनु को दंड देने बैठी हूँ या रक्षा करने ? जिसका निर्णय उसके हृदय ने कर दिया। यहां बैठने की कल्पना ही मधुर है, इससे कुछ न कुछ भला होगा, सत्य मेरी इस कल्पना का ही समर्थन करेगा।

मनु के घायल शरीर के पास बैठे इडा को कितनी ही रातें बीत जाती हैं। इतने काल तक मनु का मूर्छित पड़े रहना कुछ अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। किन्तु प्रसाद जी का ध्येय इस प्रक्रिया से बुद्धिवाद के चक्र में फंसे हुए मनको संघर्ष की अपार चोटें खाकर यहां तक कि मूर्छनावस्था को प्राप्त होकर श्रद्धा की ओर अग्रसर न होने का चित्रण करना है। श्रद्धा का पुनर्मिलन और उसके मधुर गान से मनु में स्पंदन आना भी इसी बात के द्योतक हैं। श्रद्धा का कोमल स्पर्श पाते ही मनु स्वस्थ हो जाते हैं तथा वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि बुद्धि-तर्क के छिद्र होने के कारण उनका हृदय उस रस से नहीं भर सका, जिसकी मधुरधारा श्रद्धा ढाल रही थी। श्रद्धा उन्हें सबसे मेल करना सिखाती थी। वह अपने प्यारे पशु की बलि और मनु के आखेट कर्म से ही असन्तुष्ट हो गई थी। फिर वह इतने बड़े नरसंहार को देखकर क्या कहेगी ? उसके रहते हुए बदले की भावना कदापि पूरी नहीं हो सकती। यह सोचते ही मनु सब को छोड कर शान्ति की खोज में निकल पड़ते हैं। संसार से उन्हे विरक्ति हो जाती है निर्वाण की ओर उनका यह प्रयाण भी श्रद्धा-विहीन की स्थिति में ही होता है तथा उन्हें आलोक-पुरुष के दर्शन तब तक नहीं होते जब तक कि श्रद्धा उन्हें जाकर नहीं मिलती।

राष्ट्रनीति का सही संचालन भी तर्कमयी बुद्धि से श्रद्धामय और

युग की पुकार और साहित्य

(श्री करनसिंह दुखी)

आज जब कि देश के सामाजिक एवं राजनैतिक-जीवन में काप उथल-पुथल हो चुकी है तथा होने जा रही है, जनता अपने सामाजि और आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं को नवीन धारा में परिण करने की ओर अग्रसर है। हमारे साहित्य में भी कुछ विशेष परिवर्त हुआ है। किंतु उतना नही जितना कि होना चाहिए था।

यह ठीक है कि साहित्य समाज का प्रतिविम्ब है और समाज जीवन की छाप साहित्य के ऊपर पड़नी अनिवार्य है। क्यों कि साहित्य कार भी समाज का ही एक अंग है और सामाजिक जीवन को किस भी रूप में व्यक्त करने के लिये उसे यथार्थ सामाजिक जीवन क अपना आधार बनाना पड़ता है। इस लिये उसके साहित्य में समा के तत्कालीन रीति-रिवाज एवं प्रचलित धारणायें विशेष रूप प्रकटित होती हैं। आज के अधिकांश साहित्यकार भी इसी परि पाटी का अनुसरण कर रहे हैं। उन्हों ने जीवन की समालोचना साहित्य का ध्येय बना लिया है। समाज की वर्तमान अवस्था क चित्रण करना, दलितों और पीड़ितों के करुण क्रन्दन को साहित्यि भाषा में व्यक्त करना तथा 'आगे बढ़ो' की ललकार देना आज उच्चतम साहित्य की विशेषता है। यह तो कुछ इने गिने प्रगतिशी साहित्यकारों के साहित्य की बात है, अन्यथा हमारे अधिकां साहित्यकार तो आज भी रहस्यवाद और छायावाद की उलझनों

चाहिए। आधुनिक साहित्य को जब हम इस कसौटी पर कसते हैं तो हमें निराशा ही होती है। आज के अधिक प्रगतिशील साहित्य को जब हम देखते हैं तो उस में भी हम वर्तमान समाज व्यवस्था की जीर्णता प्रतिक्रिया-शीलता का उद्घाटन ही पाते हैं। भावीयुग का जीवनादर्श तथा सत्यमार्ग का लक्ष्य उसमें दिखाई नहीं देता। यह तो एक प्रकार से शोषित समाज के साथ मौखिक सहानुभूति प्रकट करना है। यदि वास्तव में हमें उससे हार्दिक सहानुभूति है तो उनके जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिये एक उचित मार्ग निर्दिष्ट करना होगा। एक नवीन जीवनादर्श उसके सम्मुख रखना होगा। प्रगति के नवीन उपाय उन्हें सुझाने होंगे तभी हमारी साहित्य रचना युग-निर्माण में सफल हो सकती है।

देश मे आज सही अर्थों में प्रजातन्त्रीय शासन की आवश्यकता है। आज के युग की मांग है कि देश के बहु-संख्यक वर्ग के हाथ में शासन–सत्ता आये। इस के लिए बहु-संख्यक वर्ग अर्थात् मज़दूर और किसानों में राजनैतिक जाग्रति की आवश्यकता है। उन्हें इस योग्य बनाना है कि वे सत्य और असत्य की पहिचान कर सकें। विभिन्न राजनैतिक समस्याओं पर अपना उचित मत प्रकट कर सकें तथा अपने आर्थिक और सामाजिक जीवन की उन्नति के लिये उचित मार्ग प्रशस्त कर सकें। यह कार्य जहां सामाजिक संस्थाओं, सुधारकों तथा प्रचारकों द्वारा हो सकता है, वहा साहित्य के द्वारा भी इस में पर्याप्त सहायता पहुँचाई जा सकती है। साहित्य और समाज का घनिष्ट सम्बन्ध है। साहित्यकार युग-निर्माता है, वह समाज को नवीन सांचे में ढाल सकता है। आज देश के बहु-संख्यक वर्ग को ठोस और उपयोगी साहित्य की आवश्यकता है। ऐसा साहित्य जो उनके मार्ग के अन्धकार को दूर कर के उन्हें प्रकाश प्रदान कर सके। उनके सामने

हमारे लेखकों का कर्तव्य है कि वे अपने लेखों द्वारा किसान और मज़दूर वर्ग में जाग्रति उत्पन्न करें। दूसरे प्रजातन्त्रीय देशों के विधान का अध्ययन उन्हें करायें। उनकी सामाजिक त्रुटियों को उनके सामने रख कर उनके दूर करने का उपाय बतायें। प्राचीन परिपाटी का मोह छोड़ कर जीवन का नवीन आदर्श उनके सामने रखें। विश्वव्यापी राजनैतिक समस्याओं पर विवेचन करके उनके राजनैतिक ज्ञान में वृध्दि करें।

हमारे कवियों को चाहिये कि वे अब रहस्यवाद और छायावाद के बखेड़े को छोड़कर जन-साहित्य की ओर ध्यान दें। अपनी कविताओं द्वारा देश के शोषित समाज में नव-जाग्रति तथा चेतना उत्पन्न करें। भविष्यदर्शी होने के नाते उन्हें भावी परिस्थितियों पर काबू पाने का का आदेश दें। इस प्रकार राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करें।

हमारे पत्रकारों के लिए भी यह उचित मार्ग है कि वे ऐसे साहित्य के प्रकाशन में कसर न उठा रखें। मज़दूरों और किसानों तक सस्ते दामों मे ऐसा साहित्य पहुंचायें जो उन्हें सहायता प्रदान कर सके। किसी प्रकार का पक्षपात न करके जन साहित्य को विशेषरूप से प्रोत्साहन दें। तभी हमारा साहित्य जनता के लिए उपयोगी साहित्य बन सकता है तथा राष्ट्र-निर्माण में साहित्यकारों का कर्तव्य पुरा हो सकता है। केवल मनोरञ्जन के लिए साहित्य लिखने वालों को अब अपनी कलम रोककर जनोपयोगी साहित्य के उत्थान में आवश्यक सहयोग प्रदान करना चाहिए, यही आज युग के की पुकार है।

काव्य के परिज्ञान प्राप्त करने का यही अभिप्राय है कि वह मानव की भाँति उसके गुण-दोष और आत्मा से पूर्णतया परिचित हो, उसकी वाह्याभ्यन्तर परिस्थितियो को वह भली भांति जानता हो।

मानवीय वृत्तियों का मनोवैज्ञानिकों ने अनेक बार सूक्ष्म निरीक्षण किया, परन्तु अन्त मे विवश होकर उन्हे यही कहना पड़ा कि "लोक-लोकान्तरों के चरित्र को कौन जान सकता है।" मानव एक पहेली है, उलझन है। और उसके सजातियो ने ज्यो ज्यों इसकी उलझी हुई गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न किया त्यों त्यो वे स्वयं उलझते गये और अन्त में विवश होकर उन्हें यही कहना पड़ा कि 'मानव की चित्त वृत्तियो के जानने का प्रयत्न करना, एक भूल-भुलैया का पता लगाना है, एक गोरख-धन्धे की उलझी हुई गुत्थी को सुलझाना है, यही बात काव्य के विषय में भी कही जा सकती है कि संसार के अनेक मनन-शील विद्वानो ने इस आनन्दमयी वृत्ति का अनुशीलन कर, उसका अनेक रूपों मे प्रतिपादन किया, अनेक परिभाषाओं मे बाँधना चाहा, पर अन्त में विवश होकर उन्हें भी यही कहना पड़ा 'रसो वै सः,, अर्थात् निश्चय पूर्वक वह (ब्रह्म) ही रस है। इस प्रकार काव्य का वास्तिविक रूप हमारे लिए एक रहस्य ही बना हुआ है और हम उस स्वतन्त्र काव्यधारा को किसी पात्र में न समा सके, उसकी सत्ता का अनुमान न लगा सके। अतः हमें उसके विषय में यही कहना पड़ा कि जो अलौकिक आनन्द हमारी मनोवृत्तियों को तरंगित करे वही काव्य-कला है। कवि लौकिक-जगत में अलौकिक जगत के दर्शन कराता है, अनिर्वचनीय अनुभूति की सृष्टि करता है जिसके फल स्वरूप योगी क ब्रह्म चिन्तन की भांति सहृदय व्यक्ति भी रसहीन होकर उस ब्रह्मानन्द सहोदर रस की अनुभूति करता है।

आलंकारिक कथानक में काव्य को पुरुष का रूपक देकर यह भी समझाने का प्रयत्न किया गया है कि यदि उस काव्य पुरुष में

काव्य और रस

(श्री एन० एल० भारद्वाज)

साहित्य मानव सभ्यता का प्रतिविम्ब है और काव्य, साहित्य का का प्रधान अग। काव्य उतना ही प्राचीन है जितने मानव-विचार मानव-प्रेम या मानव-भाव। काव्य का मूल वेदों को कहा जाता है, परन्तु एक प्रकार से वेद स्वयं काव्यमय हैं। इस दृष्टि से हम काव्य को यदि अनादि कहे तो सम्भवत, अत्युक्ति न होगी।

मनुष्य के हृदय का संघर्ष, उसका हर्षातिरेक या शोकातिशय काव्य के द्वारा ही प्रकट होता है। यह नियम ससारव्यापी है और विश्व का साहित्य इस बात का साक्षी है। गद्य में मनुष्य की चातुरी, नीति, प्रपंच आदि प्रवृत्तियाँ प्रवेश पा सकती हैं, परन्तु काव्य में इनको कठिनता से स्थान मिलता है। शुद्ध मानवीयभाव और काव्य में बहुत कम व्यवधान रहता है। वास्तव में मनुष्य का हृदय ही काव्य है।

काव्य, भावातिशय का प्रकटीकरण है। जब मनुष्य भावों की गहराई से और उनकी प्रचुरता से व्याकुल हो उठता है, तो वह अपने हृदय को काव्य के द्वारा हलका किया करता है। इसीलिए तो काव्य को साहित्य का प्रधान अङ्ग माना जाता है। साहित्य का आरम्भ ही काव्य से होता है और उसका अन्तः अर्थात् उन्नति की चरमसीमा भी काव्य ही है।

काव्य पर कला का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। उसके वास्तविक रूप को न देश ही बदल सकता है और न समाज ही। काव्य को न तो

हम यूरोपीय कह सकते हैं और न एशियायी ही; यह तो शुद्ध मानवीय है।

रागात्मक प्रवृत्तियों का प्रकटीकरण कला के द्वारा हुआ करता है और कलाओं में सबसे मुख्य काव्य-कला है। इसलिए राग और काव्य का अभिन्न सम्बन्ध है। वस्तुतः रागात्मक काव्य ही असली काव्य है।

वर्णनात्मक-काव्य रागात्मकता की ओर ले जाने वाला साधन है, वह स्वयं काव्य नहीं। भावातिशय और रागप्राचुर्य में वर्णन की गुंजाइश नहीं रह जाती। मनुष्य के हृदय की इस अवस्था का प्रकटीकरण शब्दों द्वारा नहीं हो सकता वह मौन रहता है। तभी तो कालिदास के 'कुमार-सम्भव' में रति अपने पति के देहावसान का समाचार पाकर बेहोश हो जाती है। जब उसका शोकातिशय घटने लगता है, तब उस का शोक रुदन प्रकट होता है। और फिर वह पद्य-रूप धारण कर लेता है। लार्ड टेनीसन का "इन मैमोरियम" काव्य इस नियम का दूसरा उदाहरण है। काव्य का व्यापार उस समय प्रारम्भ होता है जब अतिरेक अवस्था कम होकर वर्णन करने योग्य हो जाती है।

यहीं काव्य और कविता में भ्रम हो सकता है। कविता मानवहृदय की वह भाषा है जो शब्दों से परे है। कविता का अर्थ है कविपना या कवित्व। काव्य इन भावों का वह चित्र है जो शब्दों की तूलिका से तैयार किया जाता है। भावातिशय की तीन अवस्थायें हुआ करती हैं।

मौनावस्था—रागातिशय के कारण जब मनुष्य निश्चेष्ट और निष्प्राण हो जाता है तब उसे मौनावस्था कहते हैं। इस अवस्था का टेनीसन, कालिदास और [illegible] ने अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है।

ध्वन्यावस्था—जब मनुष्य का अतिरेक हलका होने लगता है तब वह रुदन करता है, रोता है या चीत्कार करने लगता है। इसको ध्वनि-अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में भी मनुष्य अपने अतिरेकानुभव को शब्दों

प्रकट नहीं कर सकता। दर्शक उसकी ध्वनि या अङ्ग चेष्टा विशेष
रा ही अतिरेक का अनुमान लगा सकता है। यदि दर्शक सहृदय
ो उसको शब्दों की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। उसकी
तन्त्री का वही तार स्वत. झनझना उठता है जो तार अतिरेक या
रिकोल्लासित हृदय में छुआ गया है।

काव्य में प्राय: प्रेमभरी आँखों का, क्रोध भरे रक्त नेत्रों का, मुस्क-
अथवा उदास चेहरे का जो वर्णन आता है, वह इसी अवस्था का
न है। यह ध्वनि-अवस्था लय में, आलाप में, रुदन में, विवर्ण
रे में, उल्लसित नेत्रों में, कातर दृष्टि में, फड़कते हुए ओठों में, वक्र
कुटी में और स्फूर्तियुक्त भुजदण्डों में प्रकट हुआ करती है।

शब्दावस्था—जब अतिरेकावस्था और भी हल्की होती है तब
सका शब्दों में वर्णन किया जा सकता है। इसको शब्दावस्था कहते
। इसी अवस्था से कविता का व्यापार प्रारम्भ होता है। यह अवस्था
ी साधारण शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती इसको छन्द द्वारा प्रकट
किया जा सकता है।

छन्द, जैसा कि कतिपय अर्वाचीन विद्वानों का मत है, कविता-
प्रगति का बाधक नहीं, अपितु साधक है। भावातिरेक को समुचितरू-
पेण प्रकट करने के लिए इसका स्वत. विकास हुआ है। भाषा में जो
व्याकरण का स्थान है, वही कविता में छन्द शास्त्र का है। कविता का
आदि स्वरूप छन्द-प्रबन्ध का शासन नहीं मानता। कोरे शब्दों में
भावातिशय प्रकट नहीं किया जा सकता। इसीलिए लय का आश्रय ले-
कर शब्दों को पद्य का रूप दिया जाता है जो भाव केवल शब्दों में
व्यक्त नहीं होता, वह लययुक्त शब्दों में व्यक्त हो जाता है। लय और
शब्द दोनों मिलकर कविता को जन्म देते हैं यह अतिरेक की शब्दावस्था
है। इस अवस्था में ध्वनि-अवस्था का भी प्रभाव बना रहता है। शब्द

और लय भावों का चित्र खड़ा कर देते हैं। लय में मात्रा, गति और समता स्वाभाविक रूप से आ जाती है। यह बात उन ग्राम्य-गीतों से सिद्ध हो जाती है, जिनके रचयिताओं को छन्द शास्त्र का तनिक भी ज्ञान नहीं रहता। कवि, रचना करते समय लय का ध्यान अधिक रखता है, छन्द-विधान का कम। रचना कर चुकने के बाद उसको परिमार्जित करने के लिए देखता है कि पिंगल के नियमों का पालन है अथवा नहीं। अतः कवि को कविता करते समय छन्द-शास्त्र के कारण कोई कठिनाई नहीं होती। रागनिशय के कारण उसमें लय होती है जिसके साथ शब्दों का समावेश करके वह अपने भावों को पद्य रूप दे देता है।

अतिरेकावस्था गद्य में व्यक्त नहीं की जा सकती क्योंकि उसमें लय की कमी है। यह कमी पूरी हो जाती है। शब्द और लय के सहयोग से भावों की अभिव्यक्ति होना नैसर्गिक व्यापार है। इसीलिए गायन और काव्य में अटूट सम्बन्ध है। श्रेष्ठ गायन में शब्दों का प्राधान्य नहीं, अपितु लय का प्राधान्य होता है। ऐसी अवस्था में गायन भावातिशय की परिमार्जित ध्वनि अवस्था है।

यह निर्णय करना कठिन है कि काव्य में लय प्रधान है या शब्द। कभी कभी जो शब्दों में कमी होती है, उसे लय पूरा करती है और जो लय में कमी रह जाती है, उसे शब्द पूरा करते हैं। इस दृष्टि से कहना चाहिए कि शब्द और लय दोनों ही कविता में ओत प्रोत रहते हैं। परन्तु लय में सूक्ष्मता है और शब्द में स्थूलता। स्थायी-भाव की अभिव्यक्ति केवल लय से ही हो जाती है। किन्तु लय केवल भावों का चित्र ही सामने खड़ा कर सकती है। उसके द्वारा सुनने वालों की कल्पना दृष्टि में भावों की अस्पष्टतामात्र अवतरती है। शब्द इस चित्र में रंग भरने का काम करते हैं। इस प्रकार लय और शब्द दोनों में रस निष्पत्ति होती है। अब इस बात को जानना आवश्यक है कि काव्य

लय में है या शब्दों में, ? इस विषय पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण किया जाय तो सहज ही अवगत हो जायगा कि—'काव्य न तो केवल लय में है और न केवल शब्दों में। वह इन दोनों से परे है। यही नहीं अपितु उसे मानव-हृदय से भी परे समझना चाहिये। जब हम गायन के विषय में विचार करने लगते हैं तो यही बात उस पर भी लागू होती सी दिखाई पड़ती है। गायन के स्वरस्थान का अन्वेषण करते समय हमारे सामने प्रश्न उपस्थित होता है कि वह गायक के गले में है, वाद्य के नाद में है या दोनों के सामञ्जस्य में ? सितार का यदि एक भी तार स्पर्श किया जाय तो शेष तार स्वत झनझना उठते हैं, यदि वह पूरे रूप से मिलाया गया हो। और जो राग अलापा जाता है उसकी वायु-मण्डल में अभिव्यक्ति होती है। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अन्तरिक्ष मे शब्द और स्वर दोनों ही व्याप्त हो रहे हैं। वाद्य या गायक तो उसे केवल पकड़ता है। यही निर्णय काव्य के सम्बन्ध में भी किया सकता है। हृदय, लय और शब्द तीनो ही काव्य नहीं हैं, अपितु काव्य के आधार हैं। इनको हम आजकल की भाषा में 'रेडियो सैट' कह सकते हैं। कविता भावों की निर्देशक है, स्वयं भाव नहीं। वह 'सिगनल' का काम करती है, जिसके द्वारा हम करुणा, वात्सल्य, भक्ति, प्रेम, व्यथा या क्रोध से भरे हुए मानव-हृदय में प्रवेश पाकर अमूर्तिमान भावों का अनुभव करने लगते हैं।

सर्वोत्तम कविता उसे कहते हैं जिस में शब्द कम हों, परन्तु संकेत-शक्ति अधिक हो। ऐसी ही कविता को ध्वनिप्रधान कविता कहा जाता है। ध्वनि काव्य की आत्मा मानी जाती है। बिहारी के 'वह चितवन औरे कछू जेहि बस होत सुजान' में औरे शब्द द्वारा जिस भाव की ओर संकेत किया है वह शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता था। वैसे तो 'औरे' शब्द का अर्थ अत्यन्त ही साधारण है,

परन्तु इसके अन्तस्तल तक पहुँचने की जो अद्भुत शक्ति है वह अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार से शक्ति-सम्पन्न शब्दों के द्वारा भावों की ओर संकेत करना ही कविता का माधुर्य है।

कविता का विषय भाव है पदार्थ नहीं। पदार्थों का वर्णन प्रसंग-वश किया जाता है, लेकिन भावों की प्रधानता बनी रहती है। कवि का काम है भावों को रस के रूप में परिणत कर देना। भाव सहानुभूति है और रस है उसका परिपाक। यही कारण है कि शोक संकट और करुणा का वर्णन भी रसमय होजाता है, जो श्रोता तथा पाठक को रुचिकर प्रतीत होने लगता है। व्यथा को करुणा में परिणत करके अपने वर्णन द्वारा जब कवि दर्शक या पाठक की आँखों में अश्रुकण उमड़ा देता है, तभी वह सफल कवि कहलाता है। पाठक प्रभावित होकर अश्रु बहाता है और साथ ही कवि को सराहता है। पाठक के आँसू कवि का सब से बड़ा पुरस्कार हैं, इसी को रस निष्पत्ति कहते हैं।

काव्य के मर्म को जितना भारत के विद्वानों ने समझा है उतना और किसी भी देश के विद्वानों ने नहीं। संसार के सारे साहित्य में यदि कोई सुन्दरतम वस्तु है तो, वह केवल काव्य है। सभी जगह के सहृदय पाठक काव्यानन्द का अनुभव करते हैं, परन्तु काव्य के स्वरूप का, काव्य के विषय का तथा भावों का जो विश्लेषण और विवेचन भारतीय काव्य शास्त्रियों ने किया है वह अनोखा भी है और अद्वितीय भी। विश्वनाथ ने भी 'रसात्मक वाक्य को काव्य कहते हैं'। आज काव्य की जितनी परिभाषायें हुई हैं उन सब में यही परिभाषा सर्वोपरि मानी गई है। इस के अनुकूल रस काव्य की आत्मा है तो शब्द को इस रस का शरीर कहते हैं। रस से परे भाव हैं- परन्तु एक प्रकार से रस को भाव से भी परे कहा जा सकता है। भावों की अभिव्यक्ति रस है इस लिये भाव रस से परे हैं। किन्तु काव्य की

आत्मा रस है और भाव रस निष्पत्ति का उपकरणमात्र हैं। इस दृष्टि से रस भाव से भी परे हो जाता है।

भावों के भेद के अनुकूल रस के भी नौ भेद हैं, जिन में शृंगार और करुण रस प्रधान हैं। रसों का विकास करने के लिए कवि उनके आधारों का भी वर्णन करता है। इसी लिये नायक, नायिका, उपवन वापी, कूप, तड़ाग ऋतु और पशु पक्षी आदि का वर्णन काव्य में मिलता है। परन्तु हैं ये सब गौण पदार्थ ही, प्रधान वस्तु तो रस है।

कालीदास का 'अज विलाप' और 'रति-विलाप' अज या रति के सन्ताप का ही कोरा वर्णन नहीं, अपितु प्रिय-वियोग-जन्य मानव हृदय का विशद-चित्र है। इस लिए न तो वह प्राचीन ही है और न अर्वाचीन ही। यह सार्वदेशिक है और सार्वकालिक भी। इसी दृष्टि से टेनीसन का 'इनमेमोरियम' और मिल्टन का 'ल्यूसीडस' तथा कालिदास का 'रति-विलाप' और भागवत का 'गोपी-क्रन्दन' सब एक ही कोटि के काव्य हैं। सब का रस एक है। इन रचनाओं के पढ़ने से समरस अर्थात् करुणरस की निष्पत्ति होती है। जिस समय इन रचनाओं की सृष्टि हुई थी उस समय से अब तक ये एक सा आनन्द उत्पन्न करती आई हैं। यह काव्य का चमत्कार है कि वह करुणा को भी आह्लाद में परिणत कर देता है। अज का विलाप, रति का दुःख और मिल्टन तथा टेनीसन का 'मित्र वियोग' काव्य-चमत्कृति से रसवाला हो कर आकर्षक बन जाता है। जिस काव्य में रस निष्पत्ति नहीं, वह वास्तव में काव्य नहीं, कोरा शब्दजाल है। थोथा शब्दजाल काव्य का एक मोटा दोष है। मम्मट के मतानुसार कवि का अभिप्राय शब्दों से परे है, वह उसके आर्द्र पदों में छलका करता है। उस अभिप्राय को समझने वाले भी उसे शब्दों के द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते। उनका अह्लाद, रोमांच, मौन अथवा वाह ! वाह !! द्वारा प्रकट होता है। रस हृदय

[illegible] का विषय है। शब्दों का नहीं। काव्य अत्यन्त सूक्ष्म और [illegible] है। इस के विषय में जो उपनिषदों में कहा गया है कि "वहाँ [illegible] मन और वाक् दोनों प्रयास करते हैं, परन्तु मिलती है नहीं [illegible] ।' यही बात काव्य और रस के सम्बन्ध में भी [illegible] है। वेदों में भगवान का नाम भी रस है।

शेक्सपियर ने कवि प्रेमी और पागल को एक कोटि में रखा है और कहा है कि ये लोग अपनी उन्मत्त कल्पना के द्वारा कभी पृथ्वी से स्वर्ग की ओर तथा कभी स्वर्ग से संसार की ओर उड़ान भरते रहते हैं। यह परिभाषा बहुत से कवियों पर लागू हो सकती है, किन्तु कोरे [illegible] कवियों पर ही। जो वास्तव में कवि है उसकी महिमा अथवा परिभाषा उतनी ही कठिन है, जितनी ईश्वर की। कवि शब्द हमारे साहित्य में बड़े महत्त्व का है, उपनिषदों में 'ब्रह्म' को कवि मनिषी परिभू आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया गया है। कवि के अभिप्राय को समझ जाने वाला मनुष्य उतना ही धन्य है, जितना ब्रह्म के अभिप्राय को समझने वाला है।

जिस प्रकार इस विलक्षण विधि-विधान के अनेक प्राकृतिक दृश्यों को देख कर सुन कर अथवा अनुभव करके जो रस निष्पत्ति होती है, उस [illegible] ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त दुस्साध्य है, उसी भांति यह निश्चय करना भी कठिन है कि रस का स्थान कहाँ है? कविता में, कवि में, पाठक में या अभिनय में? इस विषय में मत-विभिन्नता है। परन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रस की निष्पत्ति सब के सहयोग से होती है। कालिदास ने शकुन्तला नाटक लिखा है अमुक व्यक्ति रंगशाला में दुष्यन्त का अभिनय करता है और जनता उसके अभिनय का रसास्वादन करती है।

———:o:———

महाकवि स्व० प्रसाद जी

(सरदार हरिभजन सिंह एम० ए०)

यह तो आवश्यकता से अधिकवार कहा जा चुका है कि हिन्दी-साहित्य में छायावादी स्कूल के जन्मदाता स्व० प्रसादजी हैं। छायावादी स्कूल के जन्मदाता होने की उपाधि की प्राप्ति कुछ कम महत्त्व की बात नहीं परन्तु अवश्य ही यह कवि की मौलिक कल्पना-सृष्टि, नवीन दार्शनिक-दृष्टिकोण, उसकी प्रगतिशीलता और आधुनिकता के समकक्ष कुछ भी नहीं। यह बात मैं केवल अपनी धृष्टता अथवा साहस का प्रकाश करने के लिए कह रहा हूं। प्रसाद से परिचय-मात्र प्राप्त करने के इच्छुक काव्य-प्रेमियों के लिए यही जान लेना पर्याप्त है कि वे एक शैली विशेष के जन्मदाता थे परन्तु प्रसाद की गहरी समझ प्राप्त करने वाले जिज्ञासुओं का संतोष इसी से नहीं हो जाता।

अपने कथन की पुष्टि के लिए मैं एक उदाहरण देना चाहता हूं। साहित्य अपनी चाल चलता हुआ कतिपय स्थानों पर रुक जाता है या रोक दिया जाता है और वह किसी और पथ को ग्रहण करता है। इस पथ पर आने वाले और सौभाग्यवश उस काल में जन्म पाने वाले साहित्यिज्ञों का विशेष नाम और मान साहित्य के इतिहास में हो जाया करता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अधिक आदर का एक बड़ा—और मेरे विचार मे सबसे बड़ा—कारण यह है कि वे उस काल में उत्पन्न हुए जब कि रीतिकालीन काव्य-शैली दुर्गति को प्राप्त थी और साहित्य एक नई शैली और नई प्रकृति की उत्पति की प्रतिक्षा कर रहा था। इस परिस्थिति के निर्माण में भारतेन्दु का सर्वथा कोई हाथ न था। मुझे यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि भारतेन्दु ने

अपनी प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि के बल से इस परिस्थिति और इसकी आवश्यकताओं को पहचाना और तदनुसार साहित्य-धारा को एक नया मार्ग दिया। परन्तु मुझे यह विचार भी सर्वसम्मत सा जान पड़ता है कि भारतेन्दु या कवियों का मोल साहित्य के इतिहास में इसलिए नहीं कि उनकी अपनी निजी, मौलिक सुन्दरता है अपितु इसलिए है कि वह एक परिस्थिति-विशेष की उपज है। भारतेन्दु की रचना, 'साहित्य के इतिहास' के लिए जितनी काम की वस्तु है उतनी 'साहित्य' के काम की नहीं।

क्या प्रसाद के विषय में भी यह बात कही जा सकती है? अवश्य ही तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव उनकी रचनाओं पर है परन्तु क्या प्रसाद उन परिस्थितियों से ऊपर नहीं उठे? क्या कामायनी और आँसू का आदर इसलिए है कि साहित्य के विकास-पथ पर वे एक मील-पत्थर हैं। क्या उनकी रचना अपने अछूते कल्पना-निर्माण और मौलिक दृष्टिकोण के कारण सर्वकालीन और सर्वदेशीय सम्पत्ति नहीं बन गई? मेरा मत है कि प्रसाद की रचना अपने समय से अधिक आने वाले समय की वस्तु है। उसका आन्तरिक (Instrinsic) मोल उसके बाह्य मोल से कहीं अधिक है। इन आन्तरिक सुन्दरताओं में से कुछ का दिग्दर्शन करा देना हमारा ध्येय है।

पहली बात जो मुझे प्रसाद के विषय में कहनी है वह यह है कि प्रसाद आधुनिकतावादी हैं। मैं यहाँ यह स्पष्ट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि मैं प्रसाद को आधुनिकतावादी कह रहा हूँ, आधुनिक नहीं। आधुनिक होना, पुराने समय की रूढ़ियों के बोझ के नीचे दबे न रहना भी एक महत्व की बात है। निस्सन्देह परन्तु उस से भी बड़ी बात है हर समय को, वर्तमान और आने वाले समय को [illegible] प्राचीन रूढ़ियों से स्वतन्त्र होने का अधिकार देना। हर एक [illegible] अपने समय में आधुनिक हुआ करता है परन्तु समय बीतने पर

प्राचीन हो जाया करता है क्योंकि उसमें आधुनिकवादिता नहीं हुआ करती। प्रसाद एक ही समय में आधुनिक और आधुनिकतावादी हैं। हिन्दी में वे पहले साहित्यिज्ञ हैं जिन्होंने विकास की गति को पहचाना है और इतर साहित्यिज्ञों की भांति इस भ्रम में नहीं कि संभवत: उनका अपना काल विकास का अन्तिम पडाव है। उनके आधुनिकतावादी होने का पहला प्रमाण तो यह है कि उन्होंने प्राचीन को नवीन दृष्टिकोण से देखा है और उसके स्थान पर नवीन को स्थिर करने का यत्न भी किया है। पौराणिक पात्रों और कथानको के स्थान पर ऐतिहासिक पात्रों को स्थान देना परिस्थिति के अनुरोध के कारण न होकर उनके नवीन आधुनिकतावादी दृष्टि-कोण के कारण है। उनकी महान कृतियाँ—वे कृतियाँ जो प्रसादपन का अत्युत्तम नमूना हैं—सभी इतिहास की भित्ति पर स्थित हैं।

अजातशत्रु, स्कन्धगुप्त और चन्द्रगुप्त भारतीय इतिहास के बौद्ध-काल और मौर्यकाल से संबन्धित हैं। यह आपत्ति की जा सकती है कि प्रसाद की दृष्टि इतिहास के पुराने पात्रों पर तो गई परन्तु आधुनिक काल की समस्याओं पर नहीं। ऐसी आपत्ति उठाने वालों का, इतिहास को देखने का दृष्टिकोण एक सदी पुराना है। इतिहास की ओर से आँखें बन्द कर लेना नवीनता नहीं, नवीनता का आडंबर है। नवीन दृष्टिकोण यह है कि प्राचीन की भित्ति पर ही अर्वाचीन की स्थिति है, अतः आधुनिक समस्याओं का गम्भीर अध्ययन करने के लिए उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान आवश्यक है। इतिहास का वैज्ञानिक अनुसन्धान करने वाला एक प्रकार से आधुनिक समस्याओं को समझने और सुलझाने का मार्ग सुगम करता है। फिर यह समझने की बात है कि प्रसाद ने इतिहास को श्रद्धा-भरी दृष्टि से न देख कर एक वैज्ञानिक ऐतिहासिक की न्याय पूर्णदृष्टि से देखा है। उसने

दृष्टि हर ऐसी ऐतिहासिक घटना की ओर जाती है जो आधुनिक समस्याओं पर कुछ भी प्रकाश डालती है। वह ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में भ्रांति-रहित दृष्टिकोण स्थापित करना चाहता है और उनका अन्तिम स्तर में छिपे गूढ अर्थों को समझाने का यत्न करना चाहता है। प्रसाद एक स्थान पर कहता है :—

आज विजयी हो तुम, और हैं पराजित हम,

इतिहास-विषयक भ्रांत-भावनायें केवल विदेशियों के मन में ही नहीं, हिन्दवासियों के मन में भी हैं। वह प्राचीन इतिहास की हर घटना की अन्धी प्रशंसा नहीं करता अपितु वह उसकी वैज्ञानिक दुर्बलताओं का स्मरण कराने से भी नहीं चूकता :—

यवनों के हाथ से स्वतंत्रता को छीन कर
खेलता था यौवन-विलासी मत्त पंचनद—
प्रणय विहीन एक वासना की छाया में।

प्रसाद की मौलक-सुन्दरताओं में जिस दूसरी सुन्दरता की ओर मैं हिन्दी के पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ वह है उनका मनोवैज्ञानिक 'रहस्यावाद'। रहस्यावाद की परिभाषा करने के कई सफल और असफल यत्न हिंदी के कतिपय विद्वानों ने किए हैं। इन परिभाषाओं में अन्तर होने पर भी उनमें एक विषय पर एक वाक्यता है। सभी विद्वान पूर्णरूप से सहमत हैं कि रहस्यवाद आत्मा और परमात्मा, मनुष्य और ईश्वर के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करने का यत्न है। हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान रामचन्द्र 'शुक्ल' के कथनानुसार 'ज्ञानके क्षेत्रमें जो अद्वैतवाद है, भावना क्षेत्रमें वही रहस्यवाद है'। यदि इन परिभाषाओं के समतत्व (Common Factor) को को रहस्यवाद का आवश्यक अंग समझा जाए है तो मुझे यह कहने में कोई संकोच नही कि प्रसाद जी रहस्यवादी कवि नहीं। प्रसाद का दृष्टिकोण आधुनिक है, वे एक मानवीय कवि हैं और उन्होंने मानव-

रजनी के लघु-लघु तम कन में, जगती की ऊष्मा के बन में;
उस पर पड़ते तुहिन सघन में, छिप, मुझ से टरने वाले को।
अरे कहीं देखा है तुमने, मुझे प्यार करने वाले को ?

संसार में के कण—कण में अपने प्रियतम का दर्शन रहस्यवादी भी करते आए हैं और मानवीय प्रेम-वादी (Romanties) भी। एक-आध कविता का उद्धरण देकर कोई मत स्थापित करना एक भ्रांति को जन्म देना है। 'लहर' में हमें जिस क्रमबद्ध और अटूट (Sustained) विचार के दर्शन होते हैं वह रहस्यमय होता हुआ भी रहस्यवादी नहीं। उसका सम्बन्ध आत्मा परमात्मा से न हो कर केवल मानवीय मनोविकारों से हैं। महाकवि विद्यापति के विषय में भी ऐसी ही भ्रात-भावना पाई जाती है। उनके राधाकृष्ण संबंधी अभिसार गीतों से प्रभावित होकर सहृदय यह दावा करने लगे थे कि राधा-कृष्ण लीला वास्तव में आत्मा का परमात्मा से मिलन है। उनमें से एक अभिसार गीत सुनिए:—

निसि निसिअर भय भीम भुजंगम, जलधर बीजु उजोर
तरुण तिमिर तहओ चलसि जासि, बढ सखि साहस तोर

किसी भी प्रेमगीत में रहस्यवाद को ढूंढ निकालना पिछले कुछ वर्षों में एक प्रकार का फैशन रहा है और इसका प्रभाव कवियों पर भी पड़ा है। फलस्वरूप कविता में मिथ्या आडंबर ने काफी हद तक प्रवेश किया है। प्रेम गीत कहने के लिए साहस की आवश्यकता है। जब जब भी विद्यापति प्रसाद जैसे साहसी कवियों ने अपने प्रेम की अभिव्यंजना स्पष्ट की है, सहृदय पाठक कुछ भयभीत से हो गए हैं और अपने में मानव प्रेम को मानव प्रेम कहने का साहस न पाकर उन्होंने उसे रहस्यवादी कविता कहकर ही अपनी खपत मिटाई है।

प्रसाद को पलायनवादी प्रकट करने वाले सहृदय उनका निम्न

भक्तिकाल की रूप रेखा

(श्री सुगण चन्द शास्त्री)

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहलाता है इस समय जो साहित्य बना, वह क्या भाव, क्या भाषा और क्या साहित्य का कलापक्ष सभी की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि का है। अकेले 'राम-चरितमानस' की कोटि का महाकाव्य हिन्दी साहित्य आज तक भी निर्माण न कर सका। वस्तुतः इस समय का साहित्य जनता का सत्य मानसिक आधार लिए हुए शुद्ध मानस-प्रेरित है। उसके मूल में तुलसी की "स्वान्तः सुखाय" की भावना ही ओत-प्रोत है। यही कारण है कि इतने सौ वर्ष बाद भी उस की धुन पर आज भी मानव विभोर हो जाता है। वह साहित्य उतना ही स्थायी है, जितना कि मानव-मन या उसकी मानवता। वह अपने समय की सामयिक उपज था। जिसके सामने एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व था। कम से कम जो साहित्य दरबारी ठाठ बाठ से दूर बना उसके सम्बन्ध मे तो इस में कोई सन्देह नहीं।

पूर्वाभास—स्वभावतः परवर्ति काल के बीज (पूर्वाभाष) अपने पूर्ववर्ति के अन्त में ही दीखने लगते हैं। वीरगाथा काल का पूर्वाभास अपभ्रंश कालीन भाटों चारणों आदि

के गीतों में हुआ था। उस समय की परिस्थिति में वीर को छोड़ कर और किस की चर्चा सम्भव थी? जब कि उस समय की कविता के विषय 'प्राकृत जन' अपने जीवन का अधिकांश युद्धों में घोड़े की पीठ पर ही बिताते थे। शयन भी सशस्त्र ही होता था। भाटों और कवियों को भी एक ही हाथ से तलवार और कलम वहन करनी पड़ती थी। अतः उन की कलम में से भी यही मारू राग सुनाई दिया तो यह स्वभाविक ही था। इसी प्रकार भक्ति काल का भी आभास १४ वीं सदी में भक्ति के फुटकल पदों और विद्यापति की कवितावली के रूप में मिलता है। देश, समय और राजनैतिक परिस्थियों से जहाँ भक्तिकाल की पृष्ठ भूमि में तयार की जा रही थी, वहां एक ओर रामानुज, निम्बार्क, महाप्रभु वल्लभ आदि भक्ति-प्रधान आचार्यों और सिद्ध-नाथों द्वारा उसके स्वाभाविक प्रवाह का मार्ग प्रशस्त किया जा रहा था। फलतः सर्व प्रथम विद्यापति की 'कृष्ण गीतावली' का मधुर स्वर सुनाई देता है। ये राग कवियों में सर्व प्रथम वे ही ठहरते हैं। यद्यपि स्वतः वे शैव थे। यही वाणी अकबर काल में अधिक स्पष्ट रूप से वैष्णव भक्तों के स्वर में सुनाई देती है। इस काल में जनता के दृष्टिकोण के भेद के साथ २ कवि के दृष्टिकोण में भी भेद हो जाता है और कवि अब लौकिक स्थूल वर्णन- प्राकृत जन का वर्णन करने की अपेक्षा अन्तर जगत की ओर मुड़ता है, प्रकृति वर्णन कर ध्यान योगेन उस प्रकृति में

पुरुष चैतन्य की व्याप्ति का अनुभव कर उसी का वर्णन करने लगता है।

राजनैतिक परिस्थिति—वीरगाथा काल में कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिपुटी में से आदि (कर्म) का उत्थान कह सकते हैं। किन्तु जैसे धार्मिक कर्म का केवल आडम्बर-रूप विकृत रह गया था उसी तरह स्थूल लौकिक कर्म भी शुद्ध नहीं रहा था। उस समय के वीर कर्मठ अवश्य थे, किन्तु उन म वैयक्तिता, आपसी-द्वेष और अभिमान की भावना के मिश्रण से संगठन का अभाव हो चला और फलतः शुद्ध कर्मठता से निराश्रित हिन्दू जनता मुसलमानों की दासता में पड़ गई। इस का परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों के अत्याचार सहने पड़े। मूर्तिखण्डन, धर्मनाश, बलात् सतीत्व भंग आदि उस समय की साधारण बात थी।

मुहम्मद गौरी के बाद उसके गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक ने हिन्दुस्तान में (सन् १२६३) में गुलाम वंश की नींव रखी। इसके बाद और बाबर से प्रथम मुसलमानों की धर्मान्धता, निर्दयता और अत्याचार की पराकष्ठा का काल था। विशेषतः अलाउद्दीन खिलजी का समय तो हिन्दुओं के लिए विशेष ही आपत्तिकर था। किसान दाने २ के मोहताज पूर्णतया असुरक्षित और भारी कर के बोझे से दबा हुआ था। हिन्दू घोड़े पर चढ़कर नहीं निकल सकता था। स्त्रियों का सतीत्व एक जबर्द

नों का तिरस्कार, या मन्दिरों की प्रतिमा तोड़ना, उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण, खाल खिंचवाकर भूसा भर देना, आदि उस समय की साधारण घटनाएँ हैं। दिल्ली की कुतुबमीनार को कुतुबुद्दीन ने उस पर क़ुरान खुदवा कर अपने नाम से प्रचारित किया। इस से पूर्व यह स्तम्भ पृथ्वीराज का अपनी बहिन कृष्णा के यमुना-दर्शन के लिए बनाया एक अत्युच्च स्तम्भ था। इसी मीनार के पास वर्तमान भग्नावशेषों से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि कैसे मन्दिरों की हिन्दु-चित्रकारियों को मिटाकर उनका मुस्लिमी-करण किया गया है।

१३५७ में कुतुबुद्दीन मुबारक ने देवगिरि के राजा देवपाल को बन्दी बनाया और उसकी खाल खिंचवा कर उससे भूसा भर दिया था। चित्तौड़ पर अलाउद्दीन की दो चढ़ाइयाँ केवल पद्मिनी के लिए हुईं। तुगलक वंश के समय मुहम्मद तुगलक ने देहली के आबाल-वृद्ध नर नारियों को दिल्ली छोड़कर उस के साथ तुगलकाबाद बसाने के लिए के लिए विवश किया और जब वहां जाकर आधे से अधिक मर गये तो फिर दिल्ली चलकर रहने की आज्ञा मिली। सारे का सारा मुस्लिम इतिहास इस प्रकार की उद्दण्डता के कारनामों से भरा पड़ा है, जिस में तैमूर, चंगेज़, नादिरशाह जैसे जगमगाते रत्न भी सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य केवल लूट-मार ही था, साम्राज्य स्थापना नहीं।

हां, भारतीय इतिहास के रंगमंच पर जब से बाबर का पदार्पण होता है, तब से अवश्य ऐसी उच्छृंखलताओं से कुछ सांस मिलता है। शासकों की यह राजनीतिज्ञता, दूरदर्शिता और व्यवस्था मुगलों के साम्राज्य विस्तार के साथ बढ़ती हुई प्रतीत होती है। अकबर काल तो अपने समय की नीति, शान्ति और व्यवस्था के लिए विशेष ख्यात है। इस समय में जहां अन्य संगीत आदि कलाओं को राज्यद्वारा प्रोत्साहन मिला, वहाँ साहित्य के लिए भी उचित वातावरण प्रस्तुत हो चुका था एक होकर तथा उचित शान्तिकाल पाकर (यद्यपि हिन्दुओं के हृदय अभी अशान्तिग्रस्त थे अन्यथा ऐसे भक्ति-साहित्य की सृष्टि ही नहीं हो सकती थी क्यों कि साहित्य का सृष्टा केवल अशान्त या उद्वेलित आत्मा ही बनता है) भक्ति-काल का सोता बहा तो दूसरी ओर दरबार मे दूसरी प्रकार के साहित्य को प्रश्रय मिला जो कि बाद मे रीति-काल के रूप में विकसित हुआ। यह शान्ति-काल औरंगजेब के समय तक चलता रहा, जब कि वही अत्याचार की मारामार सुनाई देती है और प्रतिरोध स्वरूप अनेक हिन्दु शक्ति भी प्रबल हो आत्म-रक्षा में प्रयत्न-शील दीखती है।

मुसलमानों की राज्य स्थापना के साथ ही वीरकाल की समाप्ति हो जाती है। वीर का स्थान निराशा लेती है और निराशा फिर भक्ति का अवलम्ब पकड़ती है। मनुष्य अपनी

शक्ति से निराश हो अनन्त के साथ पसारता है ।

धार्मिक अवस्था—राजनीति और अत्याचार की इस गट-बंध पराकाष्ठा में पड़ कर धर्म की और इसी के साथ समाज की बुरी तरह दुर्दशा हो रही थी। भारतीय धर्म के तीन अंगों कर्म, ज्ञान, उपासना में से एक भी पूरा नहीं था। शंकर ने बौद्धों का मार्ग उन पर अपने शुद्ध-ज्ञान की प्रतिष्ठा तो की थी किन्तु कर्म और भक्ति की ओर से वे तटस्थ रहे। न उन की प्रतिष्ठा की और न निन्दा ही। फलतः कर्म का रूप और भी विकृत हो गया। उसका शास्त्रीयरूप-निरर्थक विधि-विधानों, व्रत-तीर्थाटन तक सीमित हो कर रह गया। इस पर भी बौद्ध और सिद्धों ने उसे सर्वथा मूल से ही उखाड़ने का प्रयत्न किया। उन्होंने छिन-दर्शन वेद-शास्त्र, जप-तप, तीर्थाटन और उपवास आदि की निन्दा की और अपनी तान्त्रिक कर्म-प्रक्रिया का प्रचार किया। इसी से आगे चलकर ज्ञानियों ने भी योग दिया। उन्होंने भी इस कर्म-आडम्बर का लोप करना प्रारम्भ किया और घट के भीतर गीत गाने शुरू किये। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप तुलसी के कर्म का वास्तविक आदर्श-रूप प्रकट हुआ। तुलसी ने कर्म का आदर्श और मर्यादित रूप सामने रखकर अमार्जित शक्तियों के मं..र ..भी कर्म-द्वारा संकेत किया। अस्तु, कर्म की यह दुरवस्था होने पर भी भक्ति का रूप वैसा दुरवस्थ नहीं था। भक्ति-महाभारत काल और तदनन्तर पुराण

काल में होती हुई, दबती उभरती चली आ रही थी। सर्व प्रथम विष्णु की उपासना चालू हुई। स्वयं शंकर ने अद्वैत वादी होते हुए भी अनेक स्तोत्रों का निर्माण कर साधनामार्ग ब्रह्म में सगुणता का आरोप किया था। किन्तु भक्ति-पूर्ण प्रश्रय न मिलने से यह दबती ही चलती रही। हाँ, गुप्त साम्राज्य मे इसी चौथी सदी में इसे राज्याश्रय मिला था। उनके इष्ट देव विष्णु थे और उनकी ध्वजा गरुड़-ध्वज कहलाती थी, जिस में विष्णु की मूर्ति थी। किन्तु यह प्रश्रय गुप्त-साम्राज्य के साथ ही चलता बना और भक्ति का फिर वही मन्द-प्रवाह चला। सिद्धों के नवीन चमत्कारवाद में पड़कर जहाँ अशिक्षित-जनता बवंडर में पड़ी थी, वहाँ विद्वन्मण्डली में शास्त्रानुशीलन जारी था। ब्रह्मसूत्र, उपनिषद, गीता आदि की भाष्य परम्परा चल रही थी। पौराणिक भक्ति के अनेक रूपों का अनेक प्रकार से व्याख्यान किया जाता था। ११ वीं शताब्दी के अन्त में रामानुजाचार्य ने यादवाचल पर नारायण-मूर्ति की स्थापना की और शंकर के शुद्धाद्वैत में प्रकृति-विशिष्टता मिलाकर उसे सब के लिए ग्राह्य बनाया और अपने विशिष्टाद्वैत का प्रारम्भ किया। उनका अभिप्राय यह था कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन" का सिद्धान्त यदि ठीक है तो प्रकृति भी पुरुष रूप ही है। स्थूल की उपासना-द्वारा सूक्ष्म को प्रसन्न किया जा सकता है। उस वैष्णव परम्परा में आगे निम्बार्काचार्य ने विष्णु के भगवत्

थी। कृष्ण और गोपी की उपासना चलाई। मीरा ने इन्हीं से कृष्ण का गोपाल रूप लिया था। विष्णु स्वामी ने गोपी का स्थान राधा को दिया उनका आधार ब्रह्मवैवर्त पुराण में वर्णित राधा थी जो अन्यत्र कहीं नहीं। इसी के कुछ बाद गुजरात में मध्वाचार्य ने अपना द्वैतवाद चलाया जिसके अनुसार पुरुष-प्रकृति (विष्णु-लक्ष्मी) दोनों अनादि हैं। इन्होंने विष्णु की हरि-रूप में स्थापना की। इसी के आस-पास पूर्व में जयदेव गीत गोविन्द का स्वर भर कर अपूर्व-माधुर्य वर्षण कर रहे थे। मध्य और उत्तर भारत में उस समय नाथ-पंथियों का जोर था, जिनकी ओर जनता आकृष्ट थी।

भक्ति का यह स्रोत एक निश्चित रूप से दक्षिण से निकला और समस्त भारत में फैलने लगा। किन्तु इसी के लिए बाद में मध्य और उत्तर भारत में रामानन्द और वल्लभ की आवश्यकता थी। इन सन्तों ने घूम फिर कर भक्ति का प्रचार किया, किन्तु इन के समय से पहले नाथों और सिद्धों के प्रभाव से समय, देश और राज नीति की परिस्थितियों के कारण भक्तिकाल की निर्गुणधारा के लिए पृष्ठभूमि तैय्यार हो चुकी थी। इन का समय बाद में आया।

भक्तिकाल की आदि शाखा

दर्शन के सिद्धान्तानुसार सर्व प्रथम स्थूल का आधार लिया जाता है तब सूक्ष्म में पहुंचा जाता है अतः स्वभावतः प्रश्न होता है कि सगुण भक्ति के विकाश से पहले निर्गुण का विकाश क्यों हुआ। उसके कारण रूप में हम दो-तीन बातों पर विचार करते हैं। प्रथम, कबीर के समय तक ज्ञान का प्रचार काफी जोर पकड़ चुका था—इस मे सिद्धों और योगियों द्वारा विशेष सहयोग दिया गया था। द्वितीय, सगुण भक्ति जो कुछ दबे-उभरे रूप मे चली आती थी, उसकी नींव हिल चुकी थी। मुहम्मद गजनवी (११ वीं सदी) ने सर्व प्रथम सोमनाथ की विशाल मूर्ति का खण्डन कर हिन्दुओ की सगुण आस्था को हिला दिया था। उसके बाद में कबीर के समय तक मुसलमानों ने और भी जो २ अत्याचार मूर्ति-खण्डनादि किये और हिन्दुओं की गगन-भेदी आर्तवाणी पर भी जब पत्थरों मे कोई प्रतिक्रिया नजर नहीं आई तो उनकी सगुण आराधना लुप्त-प्रायः हो गई। तिस पर सिद्धों और नाथों ने खुले आम देवोपासना तथा मूर्ति-पूजा की निन्दा की। परिणाम स्वरूप हिन्दू अपनी आस्था खो विधर्मी बन रहे थे। सामाजिक दशा अस्त-व्यस्त हो गई थी। ऐसी दशा मे रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्ति ज़ोर नहीं पकड़ पाई। कबीर से पहले भी जो सगुण-सन्त थे,

वे भी निर्गुण के गीत गाने लगे थे। इनकी सगुण वाणी की जनता में कोई प्रतिध्वनि नहीं थी। रामानुज द्वारा प्रतिपादित सगुण-भक्ति को पहले पहल महाराष्ट्रीय सन्त नामदेव ने कुछ चलाया। किन्तु बाद में उन्हें भी गोरख के शिष्य अपने सन्त [illegible] ज्ञानदेव के आग्रह से ज्ञानमार्गी बनना पड़ा। तृतीय कारण, मुस्लिम राज्य की स्थापना से हिन्दू-मुसलमानों में समानता का भ्रातृ-भाव प्रसारित करने की प्रवृत्ति इधर नाथ-पंथी योगियों द्वारा और उधर सूफी फकीरों द्वारा चल पा रही थी। सगुण-भक्ति धर्म का व्यवधान स्वरूप थी। अतः इन कई-एक कारणों से सगुण भक्ति पीछे रह गई और प्रथम निर्गुण का प्रचार हुआ।

निर्गुणधारा की कुछ विशेषतायें

(१) नाथ पन्थियों के अनुकरण पर वेदनिन्दा शास्त्र निन्दा मूर्ति-पूजा का विरोध।

(२) उन्हीं के आधार पर जाति पांति का भेद-नाश हिन्दू मुस्लिम एकता।

(३) सधुक्कड़ी भाषा और अटपटी रहस्य मूलक वाणी।

(४) दोहा पद्धति साखी शब्द वर्णन।

(५) अद्वैतवाद, योगमार्ग सुधारवाद सूफी प्रेम और [illegible] सगुण मूलक पद।

नाम, शब्द गुरु की महिमा आदि।

महात्मा कबीर का जन्म १४५६ में उस समय हुआ था जब कि भारत और भारतीय-समाज की अवस्था बिलकुल डांवा-डोल थी। हिन्दु-जनता निराश्रित, निराश और गौरव शून्य हृदय से किसी का अवलम्ब खोज रही थी। कर्म उनको कोई आशा नहीं दिला रहा था। भक्ति व्यर्थ दीख रही थी। ज्ञान की ओर कुछ प्रवृत्ति अवश्य थी। ऐसी ही ढुल-मुल परिस्थिति मे कबीर एक रहस्य के रूप में प्रकट हुए थे और यही रहस्यवाद उन के जन्म के साथ ऐसा लिपटा कि उनके जीवन काल से आज तक लोग यह निश्चय न कर पाये कि वे हिन्दू थे या-मुसलमान। साहित्य मे भी उन का रहस्यवाद प्रसिद्ध है।

कबीर का जीवन—कबीर ने कहीं भी अपने माता पिता का नाम नहीं दिया। उनके तथा उनके अनुयायियों के ग्रन्थों के आधार पर कबीर के जीवन का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है। अपने एक भक्त ब्राह्मण की विधवा पुत्री को रामानन्द ने भूल से पुत्रवती होने का वरदान देदिया। परन्तु जब उन्हें पता चला कि यह विधवा है तो कहा कि इसकी कोख से किसी महापुरुष का जन्म होगा और हुआ भी ऐसा ही। वह विधवा लोक-लाज के भय से बालक को काशी में ही लहरतारा नामक तालाब के किनारे फैंक आई, जहां से वह सौभाग्यशाली नीरू नामक जुलाहे को मिल गया जो जाति से मुसलमान था और काशी का ही रहने वाला था। नि सन्तान नीमा और नीरू उसे पुत्र की तरह पालने लगे और उसका नाम कबीर रखा। बचपन

ही कबीर में भावोन्मुखता के कुछ स्वाभाविक हिन्दु-जन्य लक्षण प्रकट होने लगे थे। मुसलमान होने पर भी वे राम नाम जपने लगे और उन्हें तिलक लगाने का बड़ा शौक था। भ्रमणोपरान्त बनारस में गद्दी बना, राम प्रचार करते हुए स्वामी रामानन्द जी के कीर्तन को सुनकर बालक कबीर ताना-बाना भूल कर ठगा सा खड़ा रह जाता था। अभिभावक माता पिता ने उसे परिश्रम से अपना धन्धा सिखाया और कबीर भी बड़े मनोयोग से उसमें आशातीत उन्नति करने लगे किन्तु उनका तो निर्माण ही किसी और उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ था। माता पिता ने पहले तो उसके इन हिन्दु-संस्कारों को रोकने का प्रयत्न किया। किन्तु बाद में विफल होकर उसे उसी की इच्छा पर छोड़ दिया।

उधर रामानन्द का प्रचार बहुत बढ़ रहा था। लोग हजारों की संख्या में उनसे दीक्षा लेकर रामानन्दी तिलक लगाये घूमते थे और स्थान २ पर कीर्तन करते थे। यह देखकर कबीर भी उधर आकृष्ट हुए परन्तु उन्हें अपनी इच्छा पूर्ति का कोई उपाय नहीं दीख पड़ा। स्वामी रामानन्द ने यद्यपि समय की आवश्यकता को जानकर भक्ति का द्वार नीच-ऊंच सभी के लिए खोल दिया था तथापि कबीर विधर्मी थे अतः उन्होंने उसे दीक्षा देने से इन्कार कर दिया। परन्तु कबीर एक दिन अंधेरे में गंगा के तट पर जा लेटे और जब रामानन्द जी उधर से निकले तो कबीर पर उन का पैर पड़ गया। पैर लगते ही वे बोल उठे 'राम राम' बस फिर क्या था कबीर ने इसे ही गुरुमन्त्र मान कर अपना लिया। कुछ

दिनों बाद समाज की दशा देख कर तथा सूफी और नाथों का सत्संग पाकर उनकी भावना क्रमशः सगुण से निर्गुण की ओर हो गई और वे निर्गुण का उपदेश करने लगे। इस पर काशी के पण्डित साधु और मौलवियों का भी उन्हें कोप-भाजन बनना पड़ा। अन्त में माता पिता के मरने पर वे देशाटन को निकल पड़े और काफी भ्रमण किया। अनेक हिन्दु-मुस्लिम सन्तों से सत्संग के द्वारा ज्ञान-लाभ किया। मथुरा भ्रमण में उन्हें एक शिष्य धर्मदास मिले जो आगे चलकर उनकी गद्दी के अधिकारी हुए। मार्ग में महात्मा कबीर एक बन-खण्डी वैरागी के यहां ठहरे। वहीं उन की पालिता कन्या लोई कबीर के एक आध्यात्मिक चमत्कार पर मोहित हो गई। कबीर ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और उससे विवाह कर लिया। गृहस्थ होने के बाद कबीर जी काशी में स्थायीरूप से रहने लगे और लोई से कबीर के कमाल और कमाली नामक दो सन्तान भी हुईं।

कबीर का जीवन प्रधानतया अपने ताने-बाने के-साथ साथ उपदेश, भजन, कीर्तन और अतिथि सेवा में बीतता था। अब तक इन की साधना में चमत्कार भी आ गये थे, अनुयायी भी बढ़ रहे थे और दूर दूर से लोग इनका नाम सुनकर दर्शनों को भी आते थे। कबीर कभी आप रीझते थे और कभी राम को रिझाते थे। उनके जीवन के सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। लोदी ने अपने को ब्रह्म कहने पर इन्हें आग में डलवा दिया, नदी में फैंका, पर वे बच गये इसके अतिरिक्त और

भी कई महत्वपूर्ण बातें जोड़ी जाती हैं, तेज, सत्य, त्याग आदि के प्रतीक हैं। इस सब का आधार उनके पंथियों का कथन ही हो है—जोकि गलत तथा कल्पित भी हो सकता है। किन्तु एक [illegible] महात्मा के जीवन में जो कुछ भी विशेषताएं होनी चाहिएं वे सब इन में हैं।

सिद्धान्त और उद्देश्य—कबीर के सिद्धान्तों और उद्देश्यों को समझने के लिए उनके जीवन के निम्न तथ्यों को ध्यान में रखना परम आवश्यक है :-

(१) कबीर का जन्म एक रहस्यपूर्ण परिस्थिति में हुआ था। उनकी जाति, कुल और माता-पिता सभी रहस्य में लिपटे हुए हैं। यह माना जाता है कि वे ब्राह्मणी से हुए थे और एक मुसलमान जुलाहे ने उन्हें पाला था। इस का तात्पर्य हिन्दू-मुस्लिम समन्वय है।

(२) कबीर का जन्म समय की एक बृहद् आवश्यकता की पूर्ति के रूप में ऐसे अवसर पर हुआ था, जब चारों ओर अव्यवस्था, अराजकता और निराशा का साम्राज्य था। हिन्दू अपने धर्म से आस्था खो चुके थे, भक्ति और धर्म केवल ढकोसला बन गया था तथा सिद्धों के चमत्कार भी असमर्थ सिद्ध हो चुके थे। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और जातीय संकीर्णता का यह एक भयानक युग था। हिन्दू लोग मुसलमानों की शक्ति और सूफी धर्म के प्रभाव में आकर मुसलमान बनते जा रहे थे।

उनके जीवन ने जीवन दो विरोधी संस्कारों व ली जातियों से लिया था, अत एव उन का उद्देश्य था हिन्दु-मुसलमानों में परस्पर सद्भावना उत्पन्न करना तथा आडम्बरगत भेद-भाव को मिटाकर दोनों को साधना के एक पथ पर लाना जो कि ज्ञान के स्वर पर ही हो सकता था।

कबीर अपने समय की आवश्यकता के पूरक थे। उन्हों ने डूबते हुए हिन्दुओं के हृदय को ज्ञान के आलोक से संभाला, जिसमें से भक्ति की धारा फूट चली। आपने समाज की ओर से हो रहे चारित्रिक और नैतिक पापाचरण को रोक कर सच्चरित्रता, सादगी और नैतिकता का प्रचार किया। आपने मद्य, माँस, कामिनी और कांचन का विरोध किया। गिरे हुए साधारण जन शूद्रों और दलितों में आत्म-सम्मान और समानता के भाव उत्पन्न किए। हिंदुओं की निन्दा कट्टर मुस्लमान बन कर की और मुसलमानो की निन्दा कट्टर हिन्दु बनकर की। जाति पांति के भेद का भी इन्होंने विरोध किया। किन्तु अनेक स्थानों पर यह भी कहा कि काश मैं ब्राह्मण होता।

अशिक्षा के कारण उन की धारणा में संगत के अनुसार अनेक परिवर्तन हुए। पहले रामानन्द जी से शिक्षा लेकर वे सगुणोपासक हुए। किन्तु बाद में निर्गुणाभिमुखी हो गए।

रामानन्द जी से भक्ति का अधिकार स्त्री शूद्रों को

(२) कबीर को शिक्षा नहीं मिली थी। उन्होंने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया था वह साधुओं, महात्माओं, फकीरों, और

मार्गों के सम्पर्क में प्राप्त किया था। कबीर ने राजपूताना, पंजाब, और पूर्व आदि में काफी देशाटन किया था। और कबीर के समय बोल चाल की भाषा में पर्याप्त वैषम्य और अस्थिरता थी।

उनका जन्मकालीन रहस्य उनके जीवन में लेकर आज तक रहस्य बना हुआ है। जीवन के अनेक बड़े बड़े कार्य उनके इसी आन्तरिक रहस्य पर आधारित हैं। अपनी सच्ची आन्तरिक अनुभूति का प्रकटन भी रहस्य-शैलि में ही हुआ है। यही रहस्य भावना उनकी उलटबांसियों में अपनी सीमा को पहुंची हुई है। मिला था, किन्तु महात्मा कबीर ने विधर्मी मुसलमानों को भी इस में सम्मिलित कर दिया। सिद्धों और नाथों से उन्होंने योग, वेदान्त से अद्वैत-वाद, जातियों में परस्पर समानता, उनका बोली सधुक्कड़ी भाषा, दोहा, शब्द, गुरु की महिमा आदि ली। सूफियों से प्रेम तत्त्व, खुदावाद, सादगी आदि ली ईश्वर-जीव के प्रेम-सम्बन्ध को अनेक रूपों में, अनेक प्रकार से प्रकट किया। वैष्णवों से अहिंसावाद लिया और ये सब चीजें एक साथ नहीं ली, अपितु कालान्तरों में ली गईं।

देशाटन का भाषा पर यह प्रभाव पड़ा कि उन के अपने कथन के अनुसार वह पूर्वी होते हुए भी राजस्थानी, पंजाबी, आदि और ग्रामीण शब्दों और मुसलमानों के सम्पर्क से फारसी से भरी अव्यवस्थित साधुओं जैसी अटपटी है-साधारणों के योग्य। कबीर की अस्थिरता और वैषम्य उन की बोली

हिन्दी साहित्य का इतिहास

प्रथम प्रवचन

वीरगाथा-काल

गुलाबचन्द

हिन्दी-साहित्य-का इतिहास

पद-परिचय

हिन्दी—शब्द का यदि प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ लिया जाय तो भारत में इस समय जो भी प्रान्तीय (Vernacular) भाषाएं मिलती हैं उन सब को हिन्दी कहा जा सकता है—क्योंकि वे भी हिन्द की हैं। किन्तु कालान्तर में यह शब्द भाषा-विशेष में रूढ़ होगया और अन्य भाषाओं के पृथक् प्रान्तीय नाम रहे। वह भाषा जिसमें यह रूढ़ होगया भारत की वह देश भाषा है जिसकी नींव आज से लगभग एक हजार वर्ष पहिले अपभ्रंश के अवसान काल में पड़ी थी, जो फिर बाद में अनेक विभिन्न परिस्थितियों मे से गुजरती हुई शीघ्र ही उन्नति करती हुई भारत के एक प्रमुखतम और विस्तृततम भूभाग की आम बोलचाल की और प्रायः समस्त देश को सर्व-सम्मत शिष्ट भाषा (काव्य भाषा-पिंगल) रूप बन गई—और जो विभिन्न राजनैतिक धार्मिक आदि परिस्थितियों मे पड़कर अपने कले-

पर मे अनेक परिवर्तन देखती हुई आज अपने वर्तमान रूप में भारत के समस्त प्रान्तों में बोली समझी, और लिखी जाती है और आज के राष्ट्रीय चैतन्य युग में भावी राष्ट्रभाषा—(कुछ मिश्रित हिन्दुस्तानी रूप में) मनोनीत हो चुकी है।

१४ वीं सदी से पहिले इसको पिंगल डिंगल देश भाषा आदि नामों से पुकारा जाता था। जब तक अपभ्रंश काव्य-भाषा के पद पर रही तब तक उसे पिंगल तथा उससे भिन्न भाषा को डिंगल या देशभाषा कहा जाता था किन्तु जब हिन्दी ने भी समय पाकर काव्य भाषा का रूप प्राप्त कर लिया तो इसका नाम भी पिंगल होगया। अपने पिंगल (काव्य-भाषा) के रूप में इसका ढांचा शौरसेनी अपभ्रंश (ब्रज और खड़ी) का था जिसमें प्रान्त विशेष (राजस्थान) के शब्दों का प्राधान्य था क्योंकि उस समय राजपूतों का ही उत्थान काल था अतः उन्हीं की भाषा के शब्दों की प्रधानता हुई—किन्तु ढांचा इसका सर्वत्र एकसा ही साहित्यिक प्रयोग में आता रहा। इसी को १४वीं सदी में जब मुसलमान यहां प्रतिष्ठित हो चुके थे उन्होंने हिन्दी या हिन्दवी नाम दिया। हिन्दी से मतलब हिंद की भाषा और हिन्दवी से हिन्दुओं की या हिन्दुस्तान की भाषा से था। किन्तु हिन्दू शब्द भी उस समय अपने जाति-विशेष तक ही सीमित धार्मिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता था प्रत्युत इसका प्रयोग उस समस्त [illegible] हिन्द के रहने वालों के लिए होता था। इसी में फिर बाद में फारसी शब्दों के मिश्रण से उर्दू की सृष्टि हुई

जिसका सबसे पहिला नाम हिंदी बाद में दूसरा रेखता तीसरा १८ वीं सदी के अंत में उर्दू हुआ। अतएव जो उर्दू के हामी उर्दू को पहिले और हिंदी को इसमें से फारसी अरबी आदि के शब्दों को निकालकर और संस्कृत के शब्द रखकर उससे कल्पित की हुई बाद की भाषा कहते हैं, उनकी धारणा सर्वथा भ्रांत हो जाती है। क्योंकि बात वस्तुतः उल्टी है जैसा कि ऊपर कहा गया और फिर उर्दू शब्द तो बहुत अर्वाचीन है। इस भाषा के लिए सर्व-प्रथम उर्दू शब्द का प्रयोग नवाब शुजाउद्दौला और आसफ-उद्दौला १७८३ के समय में मु० अताहुसेन ने किया। उन्होंने चहार दरवेश का अनुवाद किया था और अपनी भाषा के लिये तीन नाम दिए हिन्दी, रेखता और उर्दू ए मुअल्ला। इसका मतलब है कि १८ वीं सदी के अन्त तक भी उस समय के मुसलमानों की भाषा का उर्दू नाम निश्चित नहीं हुआ था। हाँ रेखता शब्द का प्रचलन हो चुका था जिसका अर्थ उर्दू की पद्य भाषा का था। खुसरो से लेकर इंशा अल्ला तक किसी भी उर्दू के आचार्य ने भाषा के लिए उर्दू शब्द का प्रयोग नहीं किया—पहिले उसे हिन्दी या हिंदवी ही कहते रहे, बाद में उर्दू के द्वितीय उत्थान से उसका नाम रेखता होगया—जिसका अर्थ गिरी पड़ी इधर उधर बिखरी मिश्रित वस्तु होता है। इससे स्पष्ट है कि उर्दू को कई भाषाओं के मिश्रण से बनाया गया। इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि हिंदी का अपना स्वतंत्र

विकास और वृद्धि बिल्कुल अपने स्वतन्त्र ढंग पर हुए हैं।

साहित्य—शब्द के अनेक विवेचन किए गए हैं। साधारणतया किसी भी हितकामना से ओत प्रोत रचना को साहित्य कहा जा सकता है और इस दृष्टि से किसी देश या जाति की भाषा में लिखित समस्त ग्रन्थ भण्डार उसके साहित्य के अन्तर्गत आजाता है, बशर्ते कि उसमें कोई हित-कल्याण की भावना हो। साहित्य का यह विस्तृत अर्थ है। किन्तु जहां साहित्य का अर्थ सहित का भाव सहितता,—सहानुभूति, समन्वय और अन्ततः एकीकरण लिया जाय वहाँ साहित्य की कोटि में भाषा-विशेष के वे ही ग्रन्थ आ सकते हैं जिनमें दो व्यक्तियों (पाठक और ग्रन्थकार) के मनोभावों में 'सहितता' सहानुभूति उत्पन्न कर देने की, जीवन के सुख दुःख हर्ष विषाद-मूलक अनेक द्वन्द्वों में समन्वय और अन्ततः जड़ चेतन में स्थूलसूक्ष्म में एकीकरण कर देने की क्षमता हो। इस दृष्टि से साहित्य के अन्तर्भूत केवल काव्य रचनाएं ही हो सकती हैं। यह साहित्य का संकुचित अर्थ है। हिन्दी साहित्य का इतिहास, में साहित्य शब्द अपने इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतएव उसमें काव्य ग्रन्थों को छोड़कर अन्य विषयों के ग्रन्थों का वर्णन नहीं हुआ। यदि कहीं प्रासंगिक वर्णन हुआ भी है, तो वह उनके किसी साहित्यिक महत्व के कारण नहीं बल्कि भाषा के विविध रूप परिवर्तनों की क्रमबद्ध शृंखला दिखाने के लिए ही।

हिन्दी साहित्य की मूल प्रवृत्तियां वे ही हैं

जो कि अन्य कलाओं की, अर्थात सौन्दर्य पिपासा और जीवन के प्रति उत्सुकता—अपनी कहने की और दूसरे की सुनने की इच्छा। अपनी इन्हीं मूल वृत्तियों से प्रेरित होकर मनुष्य ने साहित्य की सृष्टि की है।

दो पक्ष—यहीं से साहित्य के दो पक्ष हो जाते हैं, एक अनुभूति (भाव) पक्ष और दूसरा, उसको व्यक्त करने का ढंग या शैलि (कलापक्ष)। इन दोनों पक्षों में कालाकारों में प्रकर्ष विकर्ष होता रहता है। कभी कोई पक्ष प्रधान होगया तो कभी कोई। किन्तु श्रेष्ठ साहित्य उच्च साहित्य की तभी सृष्टि होती है जब कि इन दोनों का उचित सामन्जस्य होता है—अर्थात जब भाव पक्ष प्रधान और कला पक्ष उसका पोषक, उसके विकास में सहायक होता है जैसा कि हिन्दी के भक्ति काल में जो कि हि० सा० का स्वर्णयुग कहलाता है। वीरगाथाकाल में स्थूल वर्णनात्मक शैलि आदि काव्य का बाह्यअँग कलापक्ष प्रबल और भावपक्ष निर्बल रहा, भक्तिकाल में उनमें उचित सामन्जस्य स्थापित हुआ। रीतिकाल में कालपक्ष फिर प्रधान हुआ और आधुनिक काल मे फिर भाव पक्ष प्रबल हो गया। विश्व के सभी साहित्यां में इस प्रकार का क्रम चलता रहा है।

जातीय विशेषता—इसी के साथ प्रत्येक साहित्य में अपनी जातिगत विशेषताएं होती हैं जिनके कारण वह विश्व के अन्य साहित्यों से पृथक होजाता है। जातीय विशेषताएं प्रत्येक जाति की अपनी पृथक होती हैं, जिनका विकास उस जाति की

लक्ष्य से अलक्ष्य की ओर हुआ। परिणाम यह हुआ की जीवन में विचित्रता बहुरूपता का स्थान एक रूपता सम-रसता ने ले लिया। जीवन के बाह्य स्थूल रूपों में समन्वय स्थापित करने की अपेक्षा आन्तर जगत् के सुख दुख माया कृत द्वन्द्वों और जड़ चेतन मे समन्वय स्थापित करना ही उसके लिए अधिक महत्व शाली बन गया। अन्ततः जीवन की समस्त वस्तुओं को छोड़कर केवल, "आत्मा वारे श्रोतव्यो मंत्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च" ही उसका मूल मन्त्र बन गया। उसके लिए इस जीवन का इतना महत्व नहीं रहा जितना कि आगामी जीवन का अतएव उसके लिए ऐहिक सुख त्याज्य और पारलौकिक ग्राह्य बन गए। तपोवन उसके आदर्श निवास गृह और अध्यात्म तत्व विवेक उसका मात्र ध्येय बन गया।

किन्तु बाह्य स्थूल जीवन के प्रति उसकी यह उपेक्षा अज्ञान-प्रेरित नहीं थी बल्कि ज्ञानप्रेरित थी। जीवन के मगल मय स्थूल रूप कर्म का वास्तविक तत्व अधिगत करके उसकी परिधि और सीमा देखकर ही वह उसकी ओर से तटस्थ हो अलक्ष्य पूर्णता की ओर प्रवृत्त हुआ था। ज्ञान और कर्म में उचित सामंजस्य स्थापित कर उसने ज्ञान को कर्म का निर्देशक बनाया था और इसी में उसने जीवन की पूर्णता का अनुभव किया था। जहाँ उसने ज्ञान विज्ञान के उच्चतम शिखर पर खड़ा होकर अंगुलि निर्देश द्वारा विश्व को तत्व दर्शन कराया था वहाँ कर्म के भी उच्च से उच्च आदर्शों की पूर्ण अर्चना की थी,

लिए प्रकृति के विभिन्न सौन्दर्यमय रूपों की ओर मुड़ा और उनके सौन्दर्य्य में अपने को खो दिया। किंतु इस सौन्दर्यानुभूति से ऊपर वह नहीं पहुंच सका, सौन्दर्य के स्थूल रूप में ही खोया जाकर वह उसके मूल भूत अनन्त सौन्दर्य की निधि (परमात्म-तत्व) को नहीं देख सका। परिश्रम से श्रांत मनोमस्तिष्क में चिन्तन की उन्मुख जागरूकता कहां सम्भव थी। फलतः उसकी सौन्दर्य—अनुभूति का स्तर केवल मानस लोक तक ही रहा—वह केवल सौन्दर्य पिपासा कुल प्रकृति—द्रष्टाकवि ही बनकर रह गया—आत्मद्रष्टा नहीं हो सका। परिणामतः उसके साहित्य में भी उसका यही आदर्श स्थिर होगया। उसमें जीवन की विचित्रता है, बहुरूपता है किन्तु इससे ऊपर सूक्ष्मान्तर जगत् के प्रति उसकी गति अवरुद्ध है। उसमे आत्मा के स्थानमें मन और ज्ञान के स्थान में केवल कर्म का ही विकास हो पाया।

इसके पश्चाद्वर्ती रोमन लोगोने कर्म का आदर्श तो ग्रीकोंसे लिया ही था जिसके बल पर उन्होंने महान् विजयें प्राप्त कीं, बड़े २ साम्राज्य स्थापित किए किंतु सौन्दर्यानुभूतिके वे उस स्तर तकनहीं पहुचे जहांतक कि ग्रीकों की गति थी, उनका स्तर मनोलोक से भी नीचे वासनात्मक ही रहा। फलतः साम्राज्यों के बाद वे वासनारत हुए—अत्याचार हुए अनाचार हुए—और अंत में प्रतिक्रिया स्वरूप ईसाइयत का जन्म हुआ। इस प्रकार रोमन साहित्य में इच्छा या वासना का ही विकास हो पाया। और उसी के विविध विलासमय रूपों का साहित्य में वर्णन है।

यह तो विभिन्न जातियों के साहित्यों की बात है जिनमें जाति गत मौलिक वृत्तियों के भेद से भेद होना स्वाभाविक है। इसी के साथ स्वयं एक जाति के भी दृष्टिकोण में समय-विशेष परिस्थिति विशेष में पड़कर अन्तर आ जाता है। उदाहरणार्थ हिंदी साहित्य को देखें।

हि० सा० के प्रारम्भिक वीर गाथा का०में स्पष्ट ही तत्कालीन संघर्षमय जीवन का प्रतिबिम्ब है।

पश्चात् भक्तिकाल में उस काल के दृष्टिकोण का उन्नत चित्र है जब आसीन मानव अपनी शक्ति में आस्था खोकर भगवान की शक्ति में आस्था स्थापित कर आत्म निवेदन और भगवदाराधन निरत हो जाता है।

तीसरे रीतिकाल में भक्त कवि सहवासी शैतान के मोहजाल में पड़कर अपने उच्च आसन से च्युत होकर विलासिता के कीच में पड़ा मधुप की भांति कल्पना-स्वप्न देखता है।

चौथे आधुनिक काल में प्रथम राष्ट्र की नवयुगी चेतनता और वर्तमान समाज विद्रोह का स्पष्ट आभास है।

इतिहास-इतिहास का साधारण निर्वचन है "इति ह-आस" अर्थात अमुक वस्तु यहाँ थी, इस प्रकार का वर्णन इतिहास होता है। किन्तु इतिहासकार का कार्य क्या यहीं तक हो जाता है? इतिहासकार यदि अपने वर्ण्य विषय की केवल नामावली, या समय की विशेष २ घटनाओं का सूची मूलक असम्बद्ध

विवरण दे दे तो क्या उसका कार्य पूरा हो जाता है? नहीं होता। उसका कार्य इससे कहीं गुरुतर है। जब तक वह विभिन्न घटनाओं, राजनैतिक आन्दोलनों और क्रान्तियों आदि के मूल कारणों का विवेचन कर उनका घटनाओं की स्वाभाविक गति विधि के साथ विवेक और तर्कपूर्ण परस्पर कार्य कारण भावसे सामञ्जस्य स्थापित नहीं करता तबतक उसका कार्य अपूर्ण है और वह श्रेष्ठ इतिहासकार नहीं हो सकता। यही बात साहित्य के इतिहासकारों के विषय में भी समझनी चाहिए। साहित्यिक इतिहासकार यदि किसी समय विशेष के साहित्यक ग्रन्थों, उनके कर्ताओं, उनके विषयों और भाषा का केवल परिचयमात्र देकर बस करदे तो वह इतिहास केवल एक सूची पत्र मात्र रहेगा, जब तक कि वह उस साहित्य की तात्कालिक मौलिक अन्तर्वृत्तियों का पता लगा, उनका सम्यक् विवेचन कर, उस साहित्य के साथ उनका परस्पर कार्य कारण भाव से तर्कसम्मत सामञ्जस्य स्थापित नहीं करता। अतएव एक अच्छा इतिहासकार किसी साहित्य-विशेष का इतिहास लिखते समय मूल-भूत प्रवृत्तियों का पता लगता है, उनके अनुसार उसके विभिन्न कालों का विभाग करता है और तब उनका समीक्षण विवेचन कर उन दोनों का परस्पर सामञ्जस्य बैठाकर किसी निर्णय पर पहुचता है और अपने कार्य में सफल होता है।

काल-विभाग—हिन्दी साहित्य के इतिहास का भी काल-

विभाग इतिहासकार के इसी सिद्धान्त के आधार पर किया गया है।

हिन्दी साहित्य में २० वीं सदी से पहिले इतिहास-लेखन-प्रक्रिया केवल सूची लेखनमात्र थी। प्राकृत अपभ्रंश के अनुकरण पर हिन्दी साहित्य में भी भाषाविषयक ग्रन्थ—जैसे भिखारी दास का भाषादर्पण, शिवसिंह सरोज आदि बन चुके थे। किन्तु उनमें विवेचन का अभाव था। इतिहास-लेखन की सम्यक् परिपाटी वस्तुतः नागरी प्रचारिणी सभा की इस विषय की बृहद् अन्वेषणात्मक रिपोर्टों से ही प्रचलित होती है। उन्हीं के आधार पर सर्व प्रथम मिश्र बन्धुओं ने इधर प्रयत्न किया और उनके बाद में श्री शुक्लजी ने। स्पष्ट ही मिश्रों का प्रयत्न प्रारम्भिक और इसीलिए इतना सर्वांगीण और विवेचनात्मक नहीं जितना कि उनके परवर्ती शुक्ल जी का।

शुक्ल जी ने हि० सा० के इतिहास को चार भागों में विभक्त किया है जिनके नाम काल-परिधि के अनुसार, १ पूर्वकाल, २ पूर्व मध्यकाल ३ उत्तर मध्यकाल और ४ आधुनिक काल हैं, और प्रवृत्तियों के आधार पर १ वीरगाथा काल २ भक्ति काल ३ रीतिकाल और ४ आधुनिक काल है।

आधुनिक काल में व्यक्ति प्रधान है, और व्यक्तियाँ अनन्त हैं, उनकी प्रवृत्तियां भी अनन्त हैं। अतः इस काल में कोई विशेष प्रवृत्ति प्रधान सामूहिक रूप से व्यक्त नहीं हुई। इसलिए इसका नामकरण केवल कालपरिधि के अनुसार ही हो

पाया। एक विशेषता इस समय गद्य की सर्वतोमुखी प्रगति है जिसके आधार पर इसे गद्यकाल भी कहते हैं।

हिन्दी साहित्य की कुछ विशेषताएं

१—हिंदी साहित्य प्राकृत अपभ्रंश परंपराओं के बाद सच्चे रूप मे भारतीय आत्मा का प्रतिनिधि बना है और अपभ्रंश तक अक्षुण्ण चली आती हुई विचार, दर्शन, कल्पना और भावना की अदृश्य भारतीय अमूल्य निधि का वास्तविक उत्तराधिकारी हुआ है।

२—इसपर क्या विचार क्या भावना और क्या शैलि सभीकी दृष्टि से संस्कृत का अमिट प्रभाव पड़ा है।

३—इसका जन्म विकास पोषण और परिमार्जन देश के एक हजार वर्षों से भी अधिक समय के लगातार आंतरिक और बाह्य संघर्ष के काल में हुआ है जिसका स्पष्ट प्रतिविम्ब इसमें विद्यमान है।

४—इसके चारों कालो मे परस्पर विभेद होते हुए भी उनके मूल में एक ही भावना का कहीं प्रछन्न और कहीं उद्गत रूपों में प्रवाह व्याप्त है। आदि से अन्त तक एक विवशता-मूलक निराश सन्तोष या गहरी आंतरिक करुणा की प्रछन्न रेखा उसके मूल में व्याप्त है।

चंद ने अपनी आँखो से भारत के अंतिम महान् साम्राज्य का विध्वंस देखा था। उसकी और उसके समकालीनों की

कविता में शस्त्रों की झंकारों के साथ वही हाहाकार सुनाई देता है।

भक्तिकाल में ज्ञानाश्रयी शाखा में इसी करुणा को ज्ञान के आलोक में लीन कर देने की चेष्टा है। उसके बाद में वह आत्मनिवेदनात्मक होकर अलौकिक आलम्ब का आश्रय पाना चाहती है।

रीतिकाल में उसी को कल्पना के मधुर मद में भुलाने का प्रयत्न है।

रीतिकाल के नशे का खुमार उतरने पर आधुनिक काल में चेतन होकर वही करुण भावना विद्रोह-रूप धारण करती है और आज तो महानाश का स्पष्ट आह्वान करती हुई दिखाई देती है।

वीरगाथा काल

(सामान्य परिचय)

कुछ विशेषताएं—इस काल में प्रधानतया वीर काव्य ही लिखे गये। शृंगार का वर्णन वीर के साथ आया है अवश्य किन्तु वीर का सहायक बनकर उसके अनुरूप में अर्थात् युद्ध वर्णन के लिए युद्ध कारण रूप में प्रेम-सम्बन्ध की कल्पना कर ली जाती थी चाहे उसका कोई ऐतिहासिक आधार हो या न हो। विश्व इतिहास के प्रायः सभी समृद्ध साहित्यों में इसी

प्रकार के वीरगाथा काल के दर्शन होते हैं। उनमें भी सर्वत्र इसी ढंग पर वीर के साथ२ अंगरूप में शृंगार वर्णं हुआ है। इसका कारण सम्भवतः यह हो सकता है कि वीर को युद्ध भूमि, के भीषण कृत्यों के पश्चात मनो विनोद चाहिए, जिसके लिए शृंगार की आवश्यकता होती है। हिन्दी सा० के वीरगाथा काल में और इससे पहिले अपभ्रंश में कवि चारणों द्वारा राजाओं का वीर वर्णन होता था जिसमें कुछ अंश तोवीराभास ही है शुद्ध वीर नहीं, जहां कवियों या चारणों ने अपने राजा का अस्वाभाविक खुशामद भरा वर्णन किया है। किन्तु जहां विदेशियों के विरोध से देशीय भावना जागृत हो गई है वहां शुद्ध वीरता के अत्युज्वल दर्शन होते हैं।

२—इस काल में साहित्य में दो भाषाओं का प्रयोग चालू रहता है—एक, पुरानी परम्परा से चली आती हुई काव्य भाषा अपभ्रंश का और दूसरे उसी अपभ्रंश के विकसित रूप देश भाषा का जिसका ढांचा शौरसेनी अपभ्रंश (ब्रज और खड़ी) का और शब्द भण्डार अधिकांश राजस्थानी का था और जिसे बाद में मुसलमानों ने हिन्दी या हिंदवी नाम दिया।

३—इन दोनों में अपभ्रंश साहित्य में धर्म नीति शृंगार वीरता विषयक मिश्रित रचनाएं हैं, और देश भाषा में प्रधान रूप से वीर रसात्मक और उसके अंगरूप में शृंगारात्मक रचनाएं लिखी गईं।

४—देशभाषा में काव्य दो परिपाटियों में लिखा गया, एक, मुक्तकऔर गीतों के रूप में और दूसरा, परम्परा से चली आई प्रबन्ध-परम्परा के रूप में।

५—इन दोनों भाषाओं के साहित्यों में अपभ्रंश साहित्य की सामग्री असंदिग्ध है और देश भाषा साहित्य की संदिग्ध है।

६—नीति शृंगार धर्मवीर आदि की मुक्तक रचनाएं प्राचीन अपभ्रंश परम्परा से प्राप्त दोहा चौपाई गीत आदि के रूप में होती थीं और प्रबन्ध काव्यों में कुछ अपभ्रंश में प्राप्त छंदों का और कुछ तोमर त्रोटक दोधक आदि संस्कृत वृत्तों का और कुछ नवीन कल्पित वीर रसानुकूल छंदों का प्रयोग हुआ यथा पृ० रासो में एक ऐसा ही नव कल्पित छंद है।

७—देश भाषा का यद्यपि अपना स्वतंत्र विकास हो चुका था और उसमें पर्याप्त साहित्य लिखा जा चुका था, तो भी वह प्राचीन दोनों काव्य भाषाओं (प्राकृत-अपभ्रंश) की साहित्यगत अनेक रूढ़ियों से बद्ध सी थी।

धार्मिकदशा—वीरगाथा काल के उदय से बहुत पहिले बौद्ध धर्म का ह्रास हो चुका था। शंकर के प्रबल खण्डन ने उसकी नींव हिलादी थी। दूसरे, वह स्वयं भी व्यक्तिगत धर्म के ही अनुकूल था, उसमें राष्ट्र धर्म के उपयुक्त व्यावहारिकता का आदर्श नहीं था। अतः वह एक समय के अपने राष्ट्र धर्म के रूप को बहुत देर स्थिर न रख सका। उसमें तरह तरह के

अनाचार व्यभिचार फैलने लगे। "विहार" भिक्षु भिक्षुणियों के और धर्माचार्यों के वास्तविक विहार-गृह बन गए। प्रतिक्रिया-स्वरूप शंकर का प्रबल अवलम्ब पाकर वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ और वह बड़ी जोरों से फैला। ब्राह्मण धर्म की तूती बोलने लगी और बौद्ध धर्म अपनी जन्म भू भारत से निकल अन्य बर्मा मलाया चीन जापान आदि देशों में फैलने लगा और प्रभावशाली होने लगा। और इधर धार्मिक संघर्ष चल पड़ा। बौद्धों और ब्राह्मण धर्मियों में परस्पर विद्वेष बढ़ गया एक दूसरे पर अत्याचार करने लगे। किन्तु क्योंकि ब्राह्मण धर्म का यह उत्थान काल था और बौद्ध धर्म का ह्रासकाल, अतः बौद्ध धर्म अपने विपक्षी की प्रतियोगिता में न टिक सका। उसमें अनेक विकार उत्पन्न होगए और पापाचरण बढ़ गया। बौद्ध धर्म ने अपनी इसी पतित जीर्ण शीर्ण दशा में अपनी एक नई परम्परा को जन्म दिया जिसको सिद्ध-परम्परा कहते हैं।

इस परम्परा का उदयकाल विक्रम की ७ वीं सदी में माना जाता है। इस परम्परा में चौरासी सिद्ध हुए जिनमें सरह सर्व प्रथम और गोरखनाथ संभवतया सबसे अन्तिम सिद्ध थे। इस सिद्ध परम्परा को बौद्ध धर्म की बज्रयानी शाखा कहते हैं।

ये सिद्ध लोग वाम मार्गी थे और तांत्रिक कापालिक क्रियाओं द्वारा सिद्धियाँ प्राप्त कर जनता को चमत्कार दिखाया करते थे

जिससे जनता पर इनका खूब प्रभाव पड़ रहा था। १० वीं सदी मे यह प्रभाव अधिक होगया था। इनका प्रधान प्रचार क्षेत्र पूर्वी प्रदेश (बंगाल विहार उड़ीसा आसाम) था अतः इनकी भाषा पूर्वी अपभ्रंश का अधिक रूप लिए है। आम लोगो मे धर्म प्रचार के लिए इन्होने उस समय की अपभ्रंश भाषा को ही माध्यम बनाया था जिससे उसके प्रचार में इनसे विशेष सहायता मिली।

इन्होने बौद्ध धर्म के पञ्चध्यानी बुद्धो के अतिरिक्त अनेक बोधि सत्वों की कल्पना की जो सृष्टि शक्ति केन्द्र माने गये और इन्हीं के आधार पर सृष्टि संचालन माना गया। इन्होंने बौद्ध धर्म के मौलिक निर्वाण पद के तीन (स्टेज अवस्थाएं) माने शून्य विज्ञान और महासुख। निर्वाण की अन्तिम महासुखदशा परमानन्द की दशा है जिसकी समता इन्होने लौकिक स्त्री पुरुष के सहवास सुख से की और उसको व्यक्त करने के लिए युगनद्ध आलिंगन के विविध अश्लील रूपों की कल्पना की।

महासुख दशा (ईश्वरत्व) की प्राप्ति के लिए ये अनेक तांत्रिक कापालिक क्रिआओं का आश्रय लेते थे जिनमें मद्य और कामिनी का उपभोग अनिवार्य अंग था। तान्त्रिक भैरवी चक्र आदि क्रियाओं में निर्लज्ज स्त्री की आवश्यकता है। अतएव ये अपनी क्रियाओं में नीच जाति की धोबन आदि स्त्रियों का सहयोग अधिक पसन्द करते थे। स्त्री को ये योगिनी या महामुद्रा कहते थे। इन क्रियाओं की सिद्धि के लिए अनेक गुह्य

समाजों या श्री- समाजों की स्थापनाएं होती थीं।

किंतु यह परम्परा इसी रूप में अधिक दिन न चल सकी इनकी अश्लील बीभत्स भयानक पैशाचिक क्रियाओं से जनता भीत और ऊबी हुई थी। परिणामतः इस परम्परा में हुए एक सिद्ध जलंधर योगी ने अपना नवीन पंथ चलाया जिसका प्रधान आधार पातंजल योग दर्शन था। इन्होंने सिद्धों की सभी तांत्रिक अश्लील क्रियाओं को छोड़कर हठ योग द्वारा ही ईश्वर-प्राप्ति को लक्ष्य बनाया। ये लोग योगिराट् शिव और और महामाया शक्ति के उपासक थे और दोनों के संयोग में ही मानव जीवन की पूर्णता ईश्वरत्व की प्राप्ति मानते थे। इसी परम्परा में आगे चलकर मत्स्येन्द्र नाथ और गोरखनाथ आदि हुए।

इनसे पहिले सिद्धों का प्रचार क्षेत्र पूर्व था और अपने प्रचार के लिए अपभ्रंश को माध्यम बनाया था किंतु इन बाद के नाथ पंथी यगियों का प्रचार-क्षेत्र पश्चिम प्रदेश राजपूताना पंजाब आदि था अतः इन्हें अपना माध्यम इधर के प्रदेश की भाषा देश भाषा को ही बनाना पड़ा जिससे हिंदी के प्रचार में इनसे बहुत सहारा मिला। गोरख पंथियों के लगभग ४० ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमें कई गोरख नाथ के बनाये हैं और अन्य उनके पन्थियों के। ये ग्रन्थ उस समय की गद्य पद्य दोनों में है। इनकी भाषा खड़ी की ओर अधिक झुकी हुई है। कारण उस समय (गोरखकाल) तक दिल्ली आगरे

आदि में मुसलमानो के शासन केंद्र बन चुके थे। यहीं की भाषा (खड़ी और ब्रज) का विस्तार हो रहा था। दूसरे नाथों को मुसलमानों में भी अपना मत प्रचार करना था—इनके पन्थ में आगे अनेक मुसलमान भी हुए। इस लिए इनकी भाषा में फारसी के शब्द भी आये है जिससे इनकी भाषा में ब्रज खड़ी राजस्थानी और फारसी से मिलकर वह सधुक्कड़ी रूप में हो गई जो कबीर तक रही मुसलमान फकीर भी हिन्दुओं के धर्म के सिद्धान्तों को जानने और यौगिक क्रियाओं सीखने के लिए स्वयं हिंदु योगियों का सत्संग करते थे। नाथों के योग मार्ग के एकेश्वरवाद आदि सिद्धान्त मुसलमानों के साथ मेल खाते थे। अतः इनमें सहयोग में कोई अड़चन नहीं थी। सूफी फकीर भी हिंदु मुसलमानों के सहयोग के लिए एक सामान्य साधना पद्धति का आविष्कार करना चाहते थे जो दोनों को ग्राह्य हो। इसी प्रकार का बंगाल में एक सत्यपीर पंथ मुसलमानों द्वारा चलाया गया जिसका उद्देश्य उसके नाम से प्रकट है। गोरख पंथियों के ग्रन्थों का यद्यपि साहित्यिक महत्व नहीं उनमें उनके अपने ही सिद्धाँतों का प्रतिपादन है किंतु भाषा विकास की दृष्टि से उनका महत्व है। इस परम्परा में आगे चल कर नौ सिद्ध हुए और बाद में कालाँन्तर और देशान्तर पाकर यह पन्थ भक्ति काल में ज्ञानाश्रयी शाखा में परिणत हो गया।

इनका प्रभाव अधिकतर साधारण जनता पर था। शिष्ट विद्वत्मण्डली में अभी भी प्राचीन शास्त्रों का अनुशीलन हो रहा

था। शंकर का अद्वैतवाद भी सामाजिक धर्म नही बन सका कारण वह भी एकांत साधना और व्यक्तिगत उन्नति के ही उपयुक्त था। फलतः रामानुजाचार्य ने इसके स्थान पर समय की आवश्यकता को देखकर अपने नवीन वाद विशिष्टाद्वैत वाद की स्थापना की और इस प्रकार सगुण उपासना की पुनरवातारणा की जो पश्चात भक्तिकाल में कृष्ण और राम भक्ति आदि रूपों में विकसित हुई।

राजनैतिक दशा

धर्म के साथ साथ इस समय देश की राजनैतिक दशा में भी महान अंतर घटित हो रहा था। सम्राट् हर्ष वद्धन (७०४) के निधन के पश्चात् उसका विशाल साम्राज्य अनेक छोटे मोटे चौहान तोमर चंदेल आदि वंशों के राज्य कायम हो गये। यहीं से भारत के संघर्ष काल का प्रारम्भ हो जाता है और यह तब तक चलता है जब तक की यहां मुसलमान पूर्ण तथा प्रतिष्ठित नहीं हो जाते। सर्व प्रथम इस संघर्ष का रूप गृह संघर्ष ही रहता है—बौद्धों और ब्राह्मण राजाओं में तथा उन उपर्युक्त राजपूत राज्यों में परस्पर का संघर्ष। अन्ततः इस संघर्ष ने स्वदेश को विदेशियों के हाथों में ऐसा सौंप दिया कि अब तक नहीं छूट पाया।

इस समय तक अरबों ने ईरान पर विजय प्राप्त कर ली थी,

और अब वे अपने वाणिज्य विस्तार के लिए भारत जैसे समृद्ध और विशाल देश पर अपनी शिकारी आंखें लगाए हुए थे। परिणाम यह हुआ कि वे लोग अनेक मार्गों से भारत पहुचने लगे और इस प्रकार भारत के साथ उनका सम्पर्क बढ़ने लगा। उन्हें यहां के अनेक मार्गों का पता लगा। यहां की शोचनीय परस्पर संघर्ष ग्रस्त राजनैतिक दशा का ज्ञान हुआ और अब इनका उद्देश्य व्यापारिक होने के साथ यहां पर अपना राज्य कायम करना भी हो गया और उनके हमले सिंध पर होने लगे। एक दो हमले हर्ष काल में ही हुए थे। हर्ष के बाद में तो जो राजनैतिक दशा बनी वह तो किसी भी बाह्य शत्रु के लिए और भी आकर्षण थी। उत्तर भारत की दशा तो और भी शोचनीय थी। यहाँ कोई बड़ा राज्य नहीं था। सारा प्रदेश छोटे छोटे राज्यों में बँटा हुआ था जो पारस्परिक विद्वेष से क्षत विक्षत हो किसी बाह्य शत्रु का सामूहिक प्रतिरोध करने के लिए सर्वथा असमर्थ थे। स्वभावतः इस दशा ने अरबों की आक्रमण लालसा को और भी उत्तेजना दी।

सर्व प्रथम अरबों को अपने व्यापार के लिए एक बन्दरगाह की जरूरत महसूस हुई और इस उद्देश्य के लिए उन्होंने सिंध को मनोनीत किया। फलस्वरूप ८ वीं सदी में मुह० बिन कासिम का सिंध पर अधिकार हो गया। सिंधमें बौद्धोंसे ब्राह्मण-धर्मी राजा अधिक प्रबल थे अतः बौद्धों ने उनसे बदला लेने को अरबों का आव्हान किया और अन्य हिंदु राजाओं को

दबाने में कासिम से सहयोग किया–कासिम का स्वागत किया।

जब सिंध में उनके पाँव जम गये तो उन्होंने अपने राज्य–विस्तार की लालसा से भारत के पश्चिमी प्रदेश-राजस्थान-पर हमले शुरू किए और राजपूत शक्ति का उदयकाल आया।

जहाँ तक व्यक्तिगत वीरता का सवाल है राजपूत जाति इतिहास में अपना सानी नहीं रखती—क्या राजपूत क्या राजपूतनी दोनों के लिए जान पर खेल जाना बहुत मामूली बात थी। राजपूतों का केशरिया बाना पहन कर अन्तिम युद्ध और राजपूतनियों की जोहर प्रथा इसका स्पष्ट परिचायक है। इन लोगों ने बड़ी वीरतासे अरबों का सामना किया और अरबों को अनेक बार परास्त किया। राजपूतों में इस समय अनेक ऐसे वीर हुए जिन्होने प्राणों का मोह छोड़कर बड़ी दिलेरी से अपनी मातृभूमि की रक्षा की ९वीं सदी में खुमाण द्वितीय एक ऐसे ही वीर योद्धा हुए जिन्होंने अनेक युद्धों में अरबों को परास्त किया। इनका वर्णन दलपतिविजय कविने खुमाणरासो में किया है। मुसलमानो से यह संघर्ष १०वीं तक चलता रहा और अब तक राजपूतों की अप्रतिहत वीर शक्ति के आगे इनकी पेश नहीं चली थी किन्तु १० वीं बाद यह संघर्ष प्रबल हो गया। कारण राजपूतों में पारस्परिक विद्वेष बहुत बढ़ गया था और उनकी अधिकांश शक्ति आपस में ही व्यय हो रही थी और सामूहिक संगठित प्रतिरोध की शक्ति दिनों दिन घटती जा रही थीं और अन्त में १२वीं सदीमें पृथ्वीराज के निधन के साथ

यहाँ मुसलमानों का शासन स्थाई रूप से प्रतिष्ठित हो गया। पृथ्वीराज के बाद मे भी राजपूतों ने मुसलमानो को शान्ति से नहीं बैठने दिया और युद्ध बराबर जारी रहे किन्तु संगठन शून्य राजपूत शक्ति जमीन छोड़ रही थी। अन्त मे १४ वीं सदी में यह प्रतिरोध शक्ति हम्मीर के साथ साथ ही चली जाती है। इसके बाद राजस्थान के जिन प्रदेशो मे जो राजपूत शक्ति रही भी उसको मुगलों की कूटनीति ने सुप्त बना दिया प्रतिरोध की इस शक्ति का द्वितीय उत्थान हम बाद मे औरंगजेब काल में पाते हैं जब वह शक्ति एक ओर राजपूतानों में, दूसरी महाराष्ट्र में और तीसरी ओर सिखों मे प्रबल हुई। किन्तु संगठन के अभाव मे इसका भी वही परिणाम हुआ जोकि पहिली का। वीरता का तीसरा उत्थान आधुनिक काल मे वर्तमान अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोहात्मक है जिसका सबसे अन्तिम सक्रिय सशस्त्र रूप सुभाषके नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज और राष्ट्र की स्थापना और देश के शत्रुओं से खुला सशस्त्र युद्ध है।

दो भाषाएं

वीरगाथा काल में प्रधानतया दो भाषाओं की साहित्य रचना प्राप्त होती हैं, एक परम्परा से चली आई काव्य भाषा अपभ्रंश में और दूसरे, अपभ्रंश के साथ ही विकसित होती हुई नवीन देश भाषा में।

अपभ्रंश प्राकृत के सबसे अन्तिम रूप का नाम है। इसका उदय कब हुआ और इसको अपभ्रंश नाम कब दिया गया था यह जानने के लिए कोई निश्चित आधार नहीं। पतंजलि के महाभाष्य से इस बात का अन्दाजा जरूर लग जाता है कि उस कालमें प्राकृतका एक ऐसा अन्तिमरूप प्रचलित हो गया था जो साहित्यिक प्राकृत से हटा हुआ था और जो अपढ़ अशिक्षित लोगों के प्रयोग म आता था। पण्डित लोग उस भाषा को बोलना दोष समझते थे। इसी लिए व्याकरण के प्रयोजन बताते हुए पतंजलि ने एक प्रयोजन यह भी बताया कि व्याकरण इस लिए पढ़ना चाहिए जिससे अपभ्रंश शब्दों के प्रयोग के दोष से बच सकें। और उदाहरण देते वक्त गौ शब्द के गावी, गोणी गोता, गोपुत्तलिका आदि अपभ्रंश बताए हैं। स्पष्ट ही पतंजलि ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग किसी भाषा-विशेष के अर्थ में नहीं किया बल्कि या तो भ्रष्ट अर्थ में किया है और या संस्कृत से बिगड़कर बने हुए सभी भाषाओं के शब्दों के लिए किया है। इससे पहिले के अशोक के शिला लेखों, दानपत्रों, आदि से भी यही निश्चित होता है कि उस समय प्राकृत के साथ एक अन्य भाषा का जन्म हो चुका था। किंतु उस भाषा को देश भाषा ही कहा जाता रहा अपभ्रंश नाम से नहीं। भरत मुनि और वररुचि ने इस बोली को देशभाषा ही कहा है। अपभ्रंश शब्द का देश भाषा के लिए सबसे पहिले प्रयोग ७वीं सदी के मध्य मे वाल्लभी नरेश धारसेन के शिला

लेख में है जिसमें उसने अपने पिता को संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश का कवि कहा है। इसी के बाद भामह ने भी अपभ्रंश नाम दिया है। इस समय तक आकर उसमें साहित्य रचना होने लगी थी। इस समय की भाषा के नमूने वज्रयानी सिद्धों के ग्रथों में मिलते हैं। वस्तुतः अपभ्रंश जबतक बोल चाल की भाषा रही उसे देशभाषा ही कहा जाता रहा किंतु जब उसे साहित्यमें स्थान मिला तो उसका नाम अपभ्रंश हो गया। इसके बाद इसमे जैन धर्मग्रंथ भी लिखे गए। नाटकों के अधम पात्रों की बोली में भी इसका प्रयोग हुआ और अनेक नीति शृंगार विषयक रचनाएं हुईं और बाद में हेमचन्द्र ने इसका व्याकरण भी लिखा। इस समय यद्यपि इसके साथ ही एक नवीन देश भाषा का विकास हो गया था जो कि बड़ी तेज़ी से इसके स्थान में साहित्य की भाषा बन रही थी किंतु यह भी चलती रही क्योंकि प्राचीनता के प्रेमी विद्वान अब भी इसमें लिखने में गौरव समझते थे और यह दो भाषाओं में लिखने की परम्परा १५वीं सदी तक चलती रही है। १४वीं में हम्मीर रासो की भाषा जहां अपभ्रंश का राजस्थानी-प्रधान अंतिम रूप लिए है वहां उसी समय खुसरो की मुकरियों में हमे खड़ी बोली के प्रारम्भिक रूप के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इसी तरह १५वीं में जहां कबीर अपनी सधुक्कड़ी अटपटी भाषा में रचना कर रहे थे वहीं पूर्व में विद्यापति अब भी अपभ्रंश का पल्ला पकड़े हुए थे। उस देश भाषा की मिठास को इन्होंने भी स्वीकार किया

है। इन्होंने कहा है "देसल वयना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जंपौं अवहट्ठा' इसलिए इन्होंने देश भाषा और संस्कृत मिश्रित अपभ्रंश में लिखा। अपभ्रंश परम्परा का यहीं अंत समझना चाहिए।

इस भाषा के उदय अस्त का काल लगभग डेढ हजार वर्ष का अनुमित किया जाता है।

देश भाषा-प्राकृत की रूढ़ियों से जकड़ा हुआ अपभ्रंश का साहित्यिक रूप इतना संकुचित और जटिल हो गया था कि साधारण जनों के लिए उसका प्रयोग दुरूह हो गया था। किंतु इसका बोल चाल का रूप साधारण लोगों की जिह्वा पर समय देश परिस्थिति के अनुसारस्वतंत्र रूपसे धीरे२ अपना विकासकरतारहा और अन्त में ग्रामीण साधारण जनों से उन्नति करता हुआ राजदर्बार तक पहुंच गया। अपने राजाओं के शौर्य वीर्य दान उदारता शृंगार आदि का वर्णन करनेवाले कवि चारण लोगों से इसको सहयोग मिला और इसमें साहित्यिक रचना होने लगी। इस प्रकार अपभ्रंश का बोल चाल का रूप उन्नति कर साहित्य में भी अपभ्रंश का प्रतिद्वन्दी बन गया। अपभ्रंश का जो रूप साहित्य में प्रयुक्त होता था उसका नाम अपभ्रंश था और बोल चाल के रूप का नाम अब देश भाषा होगया।

देश भाषा की मिठास ने आम लोगों को आकर्षित किया और लोगों की अपभ्रंश की ओर से रुचि हटकर इसकी ओर मुड़ी। विद्यापति के उपर्युक्त वचन मे इसी तथ्य का निरूपण

है। धीरे२ समृद्ध होकर ११ वीं १२ वीं सदी में देश भाषा ने पूर्णतया साहित्यिक रूप प्राप्त कर लिया। इसका ढांचा शौरसेनी अपभ्रंश (खड़ो और ब्रज) का था और इसमे राजस्थानी के शब्दों का प्राधान्य था-कारण, उस समय के राजपूत काल का प्रभाव। इसके साथ ही मुसलमानो के संसर्ग मे इसमे फारसी शब्दों का मिश्रण हुआ। यह रूप वीरगाथा काल में चलता रहा और १४ वीं सदी में इसी का मुसलमानों द्वारा 'हिन्दी' नामकरण हुआ जिसके फिर उत्तरकाल में अनेक रूप-अवधी ब्रजभाषा-और खड़ी-साहित्य मे प्रधान बने।

साहित्य-परिचय

अपभ्रंश-साहित्य—जब वलभी नरेश ने अपने पिता को अपभ्रंश का कवि कहकर उसका गौरव सूचित किया है तो निश्चय रूप से उस समय अपभ्रंश में कविता-निर्माण पर्याप्त मात्रा मे हो चुका होगा और उसमें भी कवि होना गौरव की बात मानी जाती होगी, किन्तु दुर्भाग्य से उस समय का कोई बृहत् साहित्यिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता। जो कुछ उपलब्ध होता है उसमें कोई विशेष प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती। उसमें धर्म नीति शृंगार वीर आदि की मिली जुली रचनाएं हैं। उस समय फुटकर रचनाओं के लिए दोहा गाथा छप्पय आदि छन्दो का प्रयोग होता था और प्रबन्ध काव्यों के लिए दोहा

चौपाई का। साहित्य के अतिरिक्त इस भाषा में सिद्धों ने अपनी वाणी लिखी और जैनियों ने अनेक धर्म नीति ज्योतिष न्याय आदि के ग्रन्थ लिखे। इनको छोड़कर जो अन्य रचनाएं जो साहित्यिक कोटि में गणित हैं, मिलती हैं उनमें ४ प्रसिद्ध हैं, १ विजयपाल रासो, २ हम्मीर रासो, ३ कीर्तिलता और ४ कीर्तिपताका।

१ विजयपाल रासो—इस ग्रन्थ का विशेष विवरण नहीं मिलता। इसका बहुत थोड़ा सा अंश बिखरा हुआ मिलता है। यह हम्मीर रासो से लगभग ५०, ६० वर्ष पहिले की एक नल्लसिंह कविकृत रचना है जिसमें विजयपाल यादव के यश प्रताप का वर्णन है। उसने कवि को १०० गाँव दिये थे।

२—हम्मीर रासो—यह अपभ्रंश का अन्तिम वीर काव्य है। इसे १४ वीं सदी के अंतिम चरण में शार्ङ्गधर ने लिखा था। इसमें रणथम्भौर के प्रसिद्ध वीर हम्मीर देव के वीर चरित्र का वर्णन है। हम्मीर ने मुसलमानों से अनेक युद्ध किये और अन्त में १३५७ में अलाउद्दीन की चढ़ाई में मारे गए। हम्मीर रासो में अनेक शावर मंत्र और भाषा चित्र काव्य भी आए हैं।

अपभ्रंश परम्परा यहीं समाप्त हो जाती है। इसके ५०-६० वर्ष के पश्चात् यद्यपि विद्यापति ने भी इसमें अपनी दो पुस्तकें लिखीं किन्तु तब तक अपभ्रंश का स्थान देशभाषा हिंदी ले चुकी थी। स्वयं विद्यापति की भी अपभ्रंश अपने पुराने रूप

से हटी हुई और देशभाषा के अधिक निकटवर्तिनी है।

कीर्तिलता—कीर्तिपताका—ये दोनों पुस्तकें विद्यापति ने १५ वीं सदी के अन्तिम चरण में लिखीं। इनमें तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह की वीरता उदारता गुण-ग्राहकता आदि का वर्णन है और अपभ्रंश कालीन दोहा चौपाई छप्पय छन्द गाथा आदि छन्दों का प्रयोग है।

इनकी अपभ्रंश की दो विशेषताएं हैं—वह पूरबी अपभ्रंश है जिसमें अधिकांश क्रियाओं के रूप पूरबी हैं, और, उसमें देशभाषा मिली हुई है एवं संस्कृत के तत्सम शब्दों का निःसंकोच प्रयोग है जिसका अभिप्राय है कि वह प्राचीन रूढ़ियों से बहुत कुछ मुक्त है।

इन साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त जो अन्य जैनियों या अन्य लेखकों द्वारा लिखित धार्मिक नैतिक साहित्य मिलता है वह संक्षेपतः इस प्रकार है। १० वीं सदी में भुआल कवि ने भगवद्गीता का पद्यानुवाद किया।

११ वीं सदी में कालिंजर के राजा ने कुछ कविताएं लिखीं, नहीं मिलतीं। इसी सदी में प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ 'वृद्धनवकार' लिखा गया। इसी समय के आसपास कुछ मुसलमान कवियों मसूद, कुतुबअली, साईं दानचरण, अकरम, फैज आदि की रचनाएं मिलती हैं। अकरम ने संस्कृत के वृत्तरत्नाकर का अनुवाद किया था। यह काल भोजकाल और उसके आसपास का काल है।

इसके पश्चात् इस भाषा में अन्य प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ लिखे गये मिलते हैं। सर्व प्रथम जैन आचार्य हेमचंद्र थे।

हेमचंद्र—(११५०—१२३०) इन्होंने प्राकृत अपभ्रंश का प्रसिद्ध सिद्ध हेमचंद्र शब्दानुशासन व्याकरण ग्रंथ लिखा जिसमें अपभ्रंश का वर्णन है। भाषाओं के उदाहरण देने के लिए इन्होंने भट्टी के अनुकरण पर "कुमारपाल चरित नामक एक प्राकृत का काव्य लिखा जिसमें अपभ्रंश के भी नमूने हैं। ये गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज के समकालीन थे।

सोमप्रभ सूरी—(१२४१) ये भी जैन आचार्य थे। इन्होंने कुमारपाल प्रतिबोध नामक संस्कृत प्राकृत मय चम्पू (गद्य पद्य मय) काव्य लिखा जिसके बीच में अपभ्रंश के दोहे भी हैं)। इसमें हेमचन्द्र द्वारा कुमारपाल को दिए गये अनेक उपदेशों का वर्णन है।

जैनाचार्य मेरुतुंग—(१३६०) ने भोजप्रबंध के आधार पर प्रबन्ध चिन्तामणि संस्कृत काव्य बनाया जिसमें प्राचीन राजाओं की कथाओं का वर्णन है। इनमें बीच २ में पुराने अपभ्रंश के पद्य उद्धृत हैं जिनमें कुछ भोज के चाचा मुंज के बनाए दोहे भी हैं जो अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के बहुत पुराने नमूने हैं।

देशभाषा साहित्य–इस भाषामें साहित्य की जो सामग्री मिलती है उसका अधिकांश संदिग्ध है। कारण इस भाषा में संघर्ष काल का भाटों चारणों द्वारा निर्मित अपने अपने राजाओं की शूरता वीरता नीति विषयक वर्णन का साहित्य उनकी मुख परम्परा

द्वारा ही बनता रहा। इस लिए इसके रूप में इसकी ऐतिहासिकता में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है।

देश भाषा में दो पद्धतियों में रचना मिलती है। एक अपभ्रंश-परम्परा से चली आती हुई प्रबन्ध-पद्धति में दूसरी अपभ्रंश कालीन धर्म नीति शृंगार वीर आदि की मुक्तक काव्य पद्धति में। वीरगीतों के रूप में इस भाषा के साहित्य के आठ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, यथाः—१खुमाण रासो २ बीसल देव रासो ३ पृथ्वी राज रासो ४ जय चन्द प्रकाश, ५ जय मयंक जस चंद्रिका, ६ परमाल रासो ७ खुसरो की पहेलियां ८ विद्यापति पदावली। इनमें नं० १, २, ३, ४, ५, के ग्रन्थ प्रबंध काव्य हैं और शेष मुक्तक काव्य हैं।

खुमान रासो—(नवमशती का मध्य भाग) देश भाषा के प्रबन्ध काव्यों में यह सर्व प्रथम काव्य है। इसे दलपत विजय नामक एक ब्रह्म भट्ट कवि ने चित्तौड़ के रावल खुमाण २ के वीर चरित्र के वर्णन में लिखा। खुमाण बड़ा वीर योद्धा था जिसने अनेक युद्धों में मुसलमानों को परास्त किया। इसके समय में चित्तौड़ पर बगदाद के खलीफा अलमामू ने चढ़ाई की थी। इसी आक्रमण के समय युद्ध करता हुआ वीर खुमाण मारा गया था।

यह काव्य बहुत कुछ संदिग्ध है। इसकी भाषा में अनेक कालों की भाषा के रूप हैं। कुछ उसमे वस्तुतः नवमी सदी की पुरानी भाषा है जो देशभाषाका बहुत प्रारम्भिक रूपहै, जिसमें अपभ्रंश का मिश्रण है और राजस्थानी का प्राधान्य है तथा

अनेक भाषाओं की क्रियाओं, विभक्तियों और प्रत्ययों आदि
के अस्थिर रूप बदले हैं। और कुछ भाषा ऐसी है जो १५-१६ वीं
सदी का परिमार्जित स्वरूप लिए हुए है। अतः अनुमान किया
जाता है कि इसका कुछ प्राचीन भाषा वाला भाग तो वस्तुतः
पूरा असली रूप है और शेषभाग अकबर कालीन किसी कवि
का बनाया हुआ है जिसमें परवर्ती राजाओं के वर्णन भी
दिए गए। दलपत विजय ने इनमे से कौन सा भाग लिखा है
यह निश्चिततया नहीं कहा जा सकता।

बीसलदेव रासो—(१२१२) खुमाण के बाद में भारत का
दूसरा वीर योद्धा था जिसने मुसलमानों को भारत के एक बड़े
भूभाग से निकलकर दिल्ली और झांसी के राज्यों पर अधिकार
किया था और विदेशियों को समस्त उत्तर भारत से खदेड़ देने
का बीड़ा उठाया था। उसी के वीर चरित्र का वर्णन—राजमती
से विवाह—उससे रूठकर उड़ीसा जाना—और फिर लौटकर
उसे चित्तौड़ वापस लाने तक का किया है। यह सारा काव्य
मुक्तक वीर गीतों के रूप मे है। वस्तुतः यह ऐतिहासिक घटना-
त्मक काव्य नहीं। इसमें वर्णनात्मक ढंग का ही प्राधान्य है।
उसमें चार खण्ड हैं और यह १०० पृष्ठ का छोटा सा
काव्य है।

इसका भी अधिकांश कल्पित और बाद का लिखा हुआ
ख्याल किया जाता है। घटनाओं के उदात्त-प्रयत्नवत-वर्णन से
यद्यपि इसका लेखक नरपति नाल्ह विग्रहराज चतुर्थ उपनाम

वीसलदेव का समकालीन प्रतीत होता है किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों में विरोध देखकर अनुमान किया जाता है कि इसका अधिकाँश किसी परवर्ती द्वारा कल्पित और बाद में जोड़ा हुआ है। इसमें वीसलदेव की रानी राजमती को धार के राजा भोज परमार की पुत्री बताया है जो कि बहुत पहिले ही मर चुका था। अतः यह विवाह कीघटना कल्पित और उत्तर-कालीन मालूम होती है।

यह काव्य प्रधानतया वीर रस का काव्य नहीं—इसमें वीसलदेव की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन नहीं और ना ही उसके शौर्य का। इसमे तो उसके वीर चरित के शृंगार पक्ष की संयोग और वियोग दोनों दशाओं का वर्णन है जो मुक्तक गीतों के रूप मे गाने के लिए लिखा गया है।

यह ग्रन्थ गीत रूप में होने से मौखिक रूप में चलता रहा जिससे इसकी भाषा मे बहुत कुछ फेरफार होगया। वैसे इसकी भाषा का रूप राजस्थानी है जिसमें पिंगल को मिलाने के लिए कवि प्रयत्न करता दीखता है। पिंगल भाषा इस समय राज-स्थानी का प्राधान्य लिए ब्रज और खड़ी के आधार पर बनी हुई थी—और डिंगल शुद्ध राजस्थानी का वह साहित्यिक रूप था जो अपभ्रंश की मिलावट से बना था। इससे स्पष्ट है कि राजस्थान मे भी काव्य के लिए हिन्दी का ही प्रयोग होता था जो कि तब तक सर्वत्र काव्य भाषा मानली गई थी। मुसलमानों के संसर्ग से इनकी भाषा में तुर्की अरबी फारसी के बहुत प्रच-

लित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

✓ पृथ्वीराज रासो—(१२२५-१२४६) हिन्दी के इस महाकाव्य के प्रणेता चन्द बरदायी हिन्दी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं। रासो के अनुसार चन्द बरदायी पृथ्वीराज के सखा, राजकवि सामंत और मन्त्री थे जो गोष्ठी में उनके सखा राजदर्बार में कवि और मन्त्री और युद्ध में सामंत बने हुए थे। ये पंजाब के रहने वाले थे और लाहौर में इनका जन्म हुआ था। इनकी जन्म और मृत्यु की तिथियाँ वे ही हैं जो पृथ्वीराज की। ये बाल्यकाल में पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के यहाँ आगये थे और तब से लेकर मृत्यु पर्यन्त पृथ्वी के अंतरंग सम्पर्क में रहे। ये षड्भाषा व्याकरण दर्शन पुराण ज्योतिष आदि के पारंगत विद्वान थे और जलंधरी देवी का इष्ट था जिसके प्रसाद से इनमें अदृश्य काव्य करने की शक्ति थी। इनकी दो स्त्रियोंसे १० संतानें हुई थी जिनमें एक लड़की थी। जल्हन इनका चतुर्थ पुत्र था जिसने इनके गजनी चले जाने के उपरान्त इनको आज्ञानुसार पृथ्वीराज रासो के अन्तिम १० समयों को लिख कर पूरा किया।

यह ग्रन्थ अढ़ाई हजार पृष्ठ का भारी ग्रन्थ है जिसमें आबू के यज्ञ कुण्ड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति (जो कि केवल चन्द की ही कल्पना है) से लेकर पृथ्वी राज के गजनी में मरण पर्यन्त की सभी प्रधान २ जीवन घटनाओं का वर्णन है। मु० गौरी को छोड़ कर इसमें पृथ्वीराज के अन्य राजाओं से युद्धों का और अनेक स्वयंवरों को जीतने का भी वर्णन है। इसमें वीर

शृंगार प्रधान रस हैं और अन्य रस आवश्यकतानुसार आते हैं।

इसमे परम्परा प्राप्त दूहा, तोमर त्रोटक कवित्त, छप्पय आदि पुराने छन्दों तथा कुछ चन्द के स्वयं उद्भावित बथुआ आदि छन्दो का प्रयोग हुआ है। अलंकार और अन्य काव्य रीतियों के तो चन्द स्वयं प्रकाण्ड पण्डित थे अतः उनका प्रयोग उन्होंने अपनी योग्यतानुसार ही किया है।

चन्द की भाषा आज के भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बिल्कुल गड़बड़ है। उसमें पूर्णतया किसी भी भाषा के नियम नहीं मिलते, व्याकरण की कोई विशेष व्यवस्था नहीं। भाषा के रूपके साथ मनमानी जबरदस्ती करके उसका अंग प्रत्यंग मरोड़ा गया है। कहीं भाषा प्राकृत की नकल सी लगती है। कहीं अनुस्वार आदि की भरमार से निरी संस्कृत सी जान पड़ती है। कहीं वह अपने असली १३वीं सदी के भव्य रूप (पिंगल) मे मिलती है तो कहीं आधुनिक सांचे मे ढली शब्दों और क्रियाओ के नवीन रूपों को लिएहुए मिलती है। इस गड़बड़ के कई कारण हो सकते हैं। यथाः—

चन्द ने इस सारे महाग्रन्थ को एक समय में नहीं लिखा वल्कि समय समय पर अपने जीवन के विविध कालों में और विविध स्थानो में लिखा। और एक मनुष्य की भाषा उसके जीवन की विविध दशाओं में सर्वदा एक सी नही रहती। अतः माना जा सकता है भाषागत सामान्य भेद इसी कारण हो—किन्तु इस कारण इतना बड़ा स्थल विभेद नहीं हो सकता।

चंद ने अपनी भाषा के विषय में स्वयं कहा है कि "षडभाषा कुरानं पुराणंध कथित मया" भिखारी दासने षड्भाषा ये गिनाई हैं—ब्रज, संस्कृत; मागधी, नाग, फारसी और अरबी। संभव है चन्द ने स्वयं अपने पाँडित्य प्रदर्शन के लिए अनेक भाषाओं के मेल से साहित्य की प्रसिद्ध भाषा समझ अलंकार शैलि के अनुसार ही रासो की रचना की हो। किंतु लगता है जैसे चंद ने भाषाओं के साथ उनके व्याकरणों का गड़बड़ घोटाला कर दिया है जिससे अर्थ दुर्बोध प्रत्युत स्थल विशेष में तो निर्बोध हो गया है। यह कारण बहुत कुछ मान्य होने पर भी सर्वांशतः उचित प्रतीत नहीं होता है कि चन्द जैसे प्रकाँड कवि ने अपने पांडित्य प्रदर्शन को इस सीमातक जाने दिया हो कि उसका भाव पक्ष इस प्रकार की उलझनों में फँस कर पड़ा सड़ता रहे और किसी को उसके साक्षात दर्शन ही नहों।

एक तीसरा कारण और माना जाता है जो कि उचित भी प्रतीत होता है और जो कि इस काल की भाषा के सभी ग्रन्थों के विषय में लागू होता है। वह यह है कि रासो पहिले लिखित संग्रहीत रूप में नहीं मिलता था। संभव है पहले लिखित रूप में रहा हो और बाद में इसकी प्रति नष्ट होगई हो। बादमें तो यह भाटों और चारणों की मुख परम्परा ही से उपलब्ध होता रहा। इसका सर्व प्रथम संकलन १७ वीं सदी में महोबे के राजा के आदेश से किया गया। जिस रूप में यह आज तक उपलब्ध है। ऐसी दशा मे इतने दीर्घ काल तक भाटों की

स्मृति की दया पर रहते हुए इसमें मनचले और अर्द्ध शिक्षित भाटों द्वारा नए आख्यान नयी घटनाएं जोड़ दी गई हों पुरानी घटनाओं में परिवर्तन कर दिया गया हो, नामों में परिवर्तन कर दिया गया हो, भाषा में भी मिलावट कर दी गई तो यह आश्चर्य नहीं बल्कि स्वाभाविक है।

सारांश यह है कि उपर्युक्त इन कारणों मे से कोई सा एक कारण रासो विषयक इस सारे झमेले को सुलझाने में चाहे समर्थ न हो किन्तु इन सब पर सामूहिक रूप से विचार करके हम इस सिद्धांत पर अवश्य पहुंच सकते हैं कि इस महाकाव्य का जो रूप इस समय मिलता है इसमे बहुत सा अंश प्रक्षिप्त और नकली है, जिसकी छानबीन करके असलियत निकालना बहुत दुष्कर कार्य है।

इस महाकाव्य के विषय में हिन्दी के आधुनिक आचार्यों में गहरा मत भेद है। कोई कोई (ओझा जी प्रमुख) तो इसे सर्वथा जाली ग्रन्थ १६ वीं सदी की 'भट्ट भणंत' मानते हैं और कोई अनेक युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर इसका समर्थन करते हैं। इन सबका सारांश निम्न प्रकार है। विपक्षियों की प्रधान युक्तियां ये हैं।

रासो के संवत और इसमें आई पृथ्वीराज के जीवन-विषयक अनेक घटनाएं उस समय के प्राप्त अन्य ऐतिहासिक आधारों—शिलालेख, दानपत्र, समकालिक अन्य ग्रन्थों और तत्कालीन फारसी इतिहासकारों—के साथ मेल नहीं। खाती

व्यक्तियों के नामों तक में अन्तर है। अनेक बाद की घटनाएं भी उसमें आई हैं—जैसे चंगेज, तैमूर आदि का वर्णन। उस समय के अन्य कवियों ने चन्द का उल्लेख नहीं किया। पृथ्वीराज की सभा में वर्तमान एक जयानक नामक काश्मीरी कवि ने "पृथ्वीराज विजय" नामक संस्कृत काव्य लिखा था जो अपूर्ण मिलता है किन्तु जिसकी घटनाएं और संवत् आदि ऐतिहासिक आधारों से ठीक मेल खाते हैं। उसने कहीं भी पृथ्वीराज की सभा में चन्द के होने का उल्लेख नहीं किया।

रासो की भाषा को देखकर तो यह रचना स्पष्ट ही कालान्तरों में विभिन्न भाटों द्वारा रचित संग्रहीत "भट्ट भणन्त" सिद्ध होती है।

इन सबका उत्तर रासो पक्षीय (पं० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्डिया आदि) आचार्यों ने यों दिया है:—

चन्द के समय में भाटों और चारणों में अनन्द लिखने की परिपाटी थी—अर्थात् वे लोग विक्रमीय सम्वत् में नन्द (शूद्र) वंश के राजत्व काल के ६० वर्ष निकाल कर उसका प्रयोग करते थे और इस प्रकार रासो के संवतों में ६० वर्ष जोड़कर उसके सम्वत् ऐतिहासिक सम्वतों से मेल खा जाते हैं। इसका आधार उन्होंने चन्द के ही एक दोहे को बनाया है।

घटनाओं के विसंवाद के विषयमें वे कोई समुचित समाधान नहीं कर सके, सिवा इसके कि कवि को अधिकार होता है कि वह ऐतिहासिक घटनाओं में प्रसंग और आवश्यकता में

अनुसार प्रभावोत्पादकता की वृद्धि और कथा सौकर्य के लिए कल्पना द्वारा परिवर्तन कर सकें। जैसे कालिदास ने 'शकुन्तला' में दुर्वासा के शाप की कल्पना की। किंतु यह समाधान इस लिए नहीं जंचता कि कवि को इतिहास विरुद्ध कल्पना करने का कोई अधिकार नहीं होता।

भाषा—विभेद के विषय मे ऊपर बहुत कुछ आ गया है, अतः वही पर्याप्त है। इन दोनों पक्षों पर विचार करके निम्न निष्कर्ष पर हम पहुच सकते हैं।

चन्द वस्तुतः पृथ्वीराज के राजकवि थे। उनकी वंशावलियां उनके वंश के लोगो मे उल्लिखित मिलती हैं। प्रसिद्ध भक्त कवि सूरदास ने अपने को चन्दवंशीय मान कर अपना वंश वर्णन किया है जिसमे चन्द का भी यथा स्थान नाम आया है।

चन्दने ही वस्तुतः यह ग्रंथ अपने जीवन के विभिन्न कालों मे बनाया था। अपने मन के अनुसार ऐतिहासिक घटनाओ मे काफी परिवर्तन भी किया था। भाषा विविध प्रकार की लिखी थी जैसे कि तुलसी और गंगने लिखी। और इस दीर्घ उत्तर काल मे भाटो चारणो द्वारा कुछ जान बूझ कर और कुछ अनजानेमे अपनी अल्पज्ञता के कारण अनेक भाषा गत घटनागत परिवर्तन भी हुए, अनेक नवीन कथाँश, जिनमे कुछ बहुत बाद की घटनाएं भी हैं, जोड़ दिये गए जिससे इस महाकाव्य में बहुत सा परिवर्तन हो गया। कहते हैं अपने काल में अकबर ने पृथ्वी राज रासो को सुनकर रासो ग्रंथ बनाने की परिपाटी

को प्रोत्साहन दिया था और उसके काल में भी कुछ रासो लिखे गये। अतः संभव है उस सयम भी रासो ग्रंथों में कुछ परिवर्तन हुआ हो। किन्तु इसके कारण इसके महत्व में कोई अन्तर नही पड़ता, बल्कि भाषा विज्ञानियों के लिए यह बहुत महत्वपूर्ण वस्तु हो जाती है।

जयचंद प्रकाश—(१२२४—१२४१) चन्द के समान जयचन्द की सभा में भी एक भट्ट केदार नामक कवि हुए है। पृथ्वीराज रासों में एक जगह चन्द और भट्ट केदार में हुए एक संवाद का वर्णन है। इस कविने जयचन्द प्रकाश नामक एक महाकाव्य लिखा था जिसमें जयचन्द के शौर्य वीर्य और यशः पराक्रम का वर्णन है। इसी प्रकार का एक और ग्रंथ 'जयमयंक जस चन्द्रिका" उसने लिखा था जो नहीं मिलता। इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख राठोड़ों के इतिहास के लेखक दयालदासके 'राठौड़ाँ री ख्यात' में हैं जो बीकानेर के राजकीय पुस्तक संग्रह में सुरक्षित है।

परमाल रासो (आल्हा)—कालिंजर के राजा परमाल के दरबार में एक जागनिक नामक कवि था जिसने महोबे के दो प्रसिद्ध वीरों आल्हा और ऊदल के अनेक युद्धों का वर्णन वीरगीतों के रूप में परमाल रासो के अन्तर्गत किया। परमाल रासो आधुनिक आल्हा खंड का मूल रूप है। कुछ लोगों का अनुमान है कि परमाल रासो परमाल के चरित्र वर्णन का एक बड़ा काव्य था। आल्हा उसी का एक खण्ड है।

स्पष्ट ही यह काव्य केवल गाने के लिए लिखा गया था। इस लिए इसकी लिखित प्रति कहीं नहीं मिलती। इसकी रचना वीर भावों के उपयुक्त आल्हा छन्द में है जिसका प्रचार समस्त उत्तरी भारत में विशेषतः कन्नौज राज्य के अन्तर्गत प्रदेशों में बहुत शीघ्र हो गया और अब तक अनेक प्रदेशों में बरसात के दिनों में इसके अखाड़े लगते हैं।

केवल मौखिक परम्परा के आधार पर चलते २ इसमें— इसके रूप में, भाव में भाषा में अनेक परिवर्तन हुए और अब यह जिस रूप में मिलता है वह इसके वास्तविक रूप से बिल्कुल भिन्न है।

रासो शब्द का निकास कोई 'रहस्य' शब्द से कोई काव्य के अर्थ में प्रयुक्त रसायन शब्द से और कोई राजस्थानी के झगड़ा अर्थ वाचक 'रासो' शब्द से मानते हैं। शुक्ल जी ने रासो का विकास काव्यार्थी रसायन शब्द से ही माना है।

इन रासो या वीर काव्यों की परम्परा बस यहीं समाप्त हो जाती है।

खुसरो की पहेलियाँ—खुसरो ने पृथ्वी राज के ६० वर्ष बाद लिखना शुरू किया था। ये अरबी फारसी के प्रगाढ़ विद्वान और बहुत सहृदय और हंसोड़ व्यक्ति थे। ये जन साधारण के सम्पर्क को पसंद करते थे अतः इन्होंने जन साधारण में प्राचीन काल से प्रचलित दोहे तुकबंदियों के ढंग पर जन-साधारण की भाषा खड़ी में अपने दोहे तुकबंदियाँ पहेलियाँ

मुकरियाँ आदि लिखीं। सर्व प्रथम खड़ी बोली का स्पष्ट रूप हमें इन्हीं की भाषा मे मिलता है, इन्होंने फारसी और देशभाषा हिंदी का प्रसिद्ध 'खालिक बारी' कोष भी बनाया था।

इन्होंने अपनी दो प्रकार की रचनाओं में दो प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। दोहे पहेलियां मुकरियाँ और तुकबंदियां तो इन्होंने खड़ी बोली में लिखीं और अपने गीतों की भाषा ब्रजभाषा मिश्रत पुरानी पिंगल हिंदी ही रखी।

पदावली—अपनी दो अपभ्रंश की उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त विद्यापति ने १४६० में मैथिली और बिहारी मिश्रित भाषा में राधाकृष्ण का शृंगार वर्णन जयदेव के गीत गोविंद के अनुकरण पर गीत रूप में लिखा था। उन गीतों के संग्रह का नाम पदावली प्रसिद्ध है। इनकी पदावली के प्रतिपद माधुर्य को देखकर ही बंगाल के चैतन्य महाप्रभु ने उनको मैथिल कोकिल की उपाधि दी थी और वे इनके एक एक पद को सुनकर अपनी सुध बुध खो बैठते थे।

इन्होंने यद्यपि कृष्ण और राधा का शृंगार वर्णन किया था तो भी ये कृष्ण भक्त कवि नहीं थे। पदावली लिखने की मूल प्रेरणा इनकी भक्ति नहीं थी वल्कि शृंगार ही था। अतएव ये कृष्ण भक्त परम्परा में नहीं गिने जाते। ये स्वयं भी शैव थे। कृष्ण और राधा का शृंगार वर्णन इन्होंने केवल शृंगार वर्णन के उद्देश्य से किया था भक्ति की तन्मयता के उद्देश्य से नहीं। इनके वर्णन बहुत मार्मिक प्रकृति चित्रण वहुत सूक्ष्म और

भाव प्रवणता अत्यन्त गहन है।

काल परिधि और वीर भावनाओं की दृष्टि से वीरगाथ काल का १५वी शती के समाप्त होने से पहिले २ ही अन्त होजाता है। इसके बाद परास्त राजपूत राजाओं को अपने और अपने पूर्वजों के वीर वर्णन को सुनकर दुख और उद्वेग होने लगा था। फलतः निराश जनता का सच्चा प्रतिनिधि निराश कवि अब भगवदुन्मुख होकर भक्ति साधना में लगने वाला था।

* इति शुभम् *

श्री इन्द्रप्रस्थ विद्यापीठ, धर्मपुरा, दिल्ली

का

शिक्षा-सम्बन्धी कार्यक्रम

१—व्याख्यान—श्री अरुण साहित्य समिति धर्मपुरा दिल्ली के तत्वावधान में साक्षरता तथा साहित्य का प्रचार करने के लिए नगर भर में हिन्दी-सप्ताह मनाये जाते हैं। इनमें वर्ण-माला तथा उच्चकोटि के साहित्य का ज्ञान कराया जाता है।

२—साहित्य प्रकाशन—संस्था की ओर से प्रति सप्ताह साहित्य के विभिन्न विषयों पर संक्षिप्त पुस्तकें तथा अन्य उपयोगी सामग्री का प्रकाशन किया जाता है जिससे साहित्य-प्रेमी घर बैठे उच्चकोटि का लाभ प्राप्त कर सकें।

३—लेखन-कला—के द्वारा कविता कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्धादि विषयो की रचनात्मक शिक्षा दी जाती है। इस श्रेणी में उच्च-शिक्षा संपन्न व्यक्ति ही भाग ले सकते हैं।

४—दैनिक श्रेणी—हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, वैद्यक, ज्योतिष तथा प्रान्तीय भाषाओं की नियमित शिक्षा देने के लिए दैनिक-श्रेणियों की व्यवस्था है जो मायारानी आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय धर्मपुरा दिल्ली के भवन में लगती है। विशेष परिचय के लिए विवरण पत्रिका देखें।

निवेदक

रामेश्वर प्रसाद पाण्डेय 'अरुण' आचार्य

यूरोप का संघर्ष

प्रथम प्रवचन

श्री रामगोविन्द 'मिश्र'

प्रकाशक
श्री इन्द्रप्रस्थ विद्यापीठ,
धर्मपुरा दिल्ली।

मूल्य ८ आना

मुद्रक—
त्यागी फाइन आर्ट प्रेस,
कटरा खुशालराय देहली।

युरोप का संघर्ष

कई बार लोगों को कहते हुये सुना जाता है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है। किन्तु अगर इस उक्ति की विवेचना की जाय तो हमें इस परिणाम पर अवश्य पहुंचना पड़ेगा कि परिस्थितियां मनुष्य द्वारा ही बनाई जाती हैं। इनके लिये कोई अन्य नहीं प्रत्युत मनुष्य ही दोषी है। इसका उदाहरण खोजने के लिये हमें अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं। अभी हाल के समाप्त हुये युद्ध को प्रमाण माना जा सकता है। यह युद्ध क्यों हुआ और क्यों इस प्रकार अपार धन जन की क्षति की गई? क्या इसकी दोषी परिस्थितियाँ हैं? कदापि नहीं। इसके दोषी स्वयं वे व्यक्ति हैं जो अपने स्वार्थों के सामने मनुष्य का खून बहाने में थोड़ा भी संकोच नहीं करते। अगर गत युद्ध के बाद 'अखाड़े बाज' लोग बुद्धिमानी से काम लेते तो बहुत ज्यादा सम्भव था कि संसार की अपार धन राशि तथा असंख्य नर संहार समराग्नि की भेंट न हो जाता। लाखों नारियाँ आज पति रहित तथा पुत्र विहीन न बनतीं। न आज की खाद्य स्थिति इतनी सकट पूर्ण होती और न भारत के बंगाल प्रान्त के ३० लाख व्यक्ति भोजन बिना तड़प तड़प कर प्राण देते। अच्छा और उचित तो यह है कि, जिस किसी एक महान व्यक्ति की किसी दूसरे महान व्यक्ति के प्रति घृणा हो वह नंगी तलवार लेकर उक्त व्यक्ति को खुले मैदान में ललकारे और इस प्रकार मरकर या मारकर अपने विद्वेषों का फैसला करले। केवल दो व्यक्तियों के लिये सारे विश्व को युद्ध करने के लिये विवश करना कहाँ की बुद्धिमानी है।

पिछले युद्ध के श्री गणेश का कारण बतलाया जाता है कि जर्मनी की राज्य लिप्सा ने ब्रिटेन को हथियार उठाने के लिये विवश किया और

इस प्रकार गत महायुद्ध हुआ। किन्तु हम पूछते हैं कि उस युद्ध में जर्मनी की राज्य लिप्सा समाप्त हो चुकी थी और वह राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से एक प्रकार कुचल दिया गया था उसी युद्ध की इस प्रकार कैसे पुनरावृत्ति हो गई। विजेता राष्ट्र यदि चाहते तो क्या यह सम्भव है कि जर्मनी आज भी लड़ाई के मैदान में कूदता ? कदापि नहीं। जर्मनी से गत युद्ध का मनमाने ढंग से बदला लिया गया। जर्मनी एक राष्ट्र की हैसियत से अपने राष्ट्रीय अपमान को कैसे भूल सकता था ? मित्र राष्ट्रों ने परिस्थितियां उपस्थित कीं और उसका परिणाम भीषण नर संहार के रूप में आया। हम मानव जीवन में किसी काम के लिये परिस्थिति को कदापि दोषी नहीं ठहरा सकते हैं परिस्थितियां मानव की सृष्टि हैं और इस लिये लाभालाभ भोगने के लिये मनुष्य को स्वयं तैयार रहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि मनुष्य स्वभाव से ही लड़ाकू है और उसका विश्वास है कि लड़ाई से ही उसका विकाश होता है। संभवतः अपनी इस सनक को सही बतलाने के लिये यह बच्चे का प्रकृति से युद्ध कर बड़ा बनने की दलील दें। किन्तु ये सभी बातें मानव स्वार्थ पर निर्भर हैं मनुष्य इन्हीं बातों को लेकर आपस में लड़ा करता है। हम अगले अध्यायों में यह दिखलाने की चेष्टा करेंगे कि किस प्रकार १९१८ के बाद मनुष्य ने अपनी ताकतों का घृणित उपयोग किया है जिसके कारण उसे इस परिणाम की ओर भागने के लिये विवश होना पड़ा।

जर्मनी पर विजय और संधि:—

सन् १९१८ ई० में जर्मनी की आर्थिक दशा इस प्रकार बिगड़ी कि मुद्रा का ह्रास हो चला। जिधर देखिये सिक्के ही सिक्के नजर आते थे। किन्तु खाद्यसामग्री का बड़ा भारी अभाव था। यहां तक कि नानबाई रोटी बेचकर बेतहाशा बाजार में आटा खरीदने के लिये भागता था कि जल्दी ही आटा खरीद ले अन्यथा भाव बढ़ न जाय जिससे उसे घाटा उठाना पड़े। मामला यहीं तक नहीं रहा। एक जर्मन से भारतीय

व्यापारी को कुछ हजार रुपये लेने थे। व्यापारी ने लिखा कि कृपा कर मेरे रुपये भेज दीजिये। उसने वहा से लिखा, महाशय, आपके पास जिस कागज पर पत्र लिख रहा हूं उसका मूल्य ८००० रूबल है। लिफाफे का मूल्य दो हजार रुबल। स्याही का मूल्य २ हजार रुबल है, जो आपके लिये मुफ्त घाटा उठाकर लिख रहा हूँ। अगर हो सके तो इसे पूरा करने की चेष्टा करें। इस उद्धरण में अतिशयोक्ति हो सकती है। किन्तु यथार्थता इतनी है कि जर्मनी में गत युद्ध (१९१४) के अन्तिम चरण में वहां अन्न का दुष्काल इतना अधिक हो गया था कि सैनिकों को कई दिन तक मोर्चे पर उपवास ही रहना पड़ता था। इस प्रकार कितने दिनों तक लड़ाई चल सकती थी। परिणाम स्पष्ट था। सेना ने विद्रोह किया और जर्मनी की हार घोषित कर दी गई।

संधि की चेष्टाः—

विलसन उन दिनों अमेरिका के राष्ट्रपति थे आपने १४ शर्तें ऐसी रखीं जिनके अनुसार जर्मनी के प्रति उदारता दिखलाने की माग की गई थी। किन्तु उस समय तो अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में बदला लेने की धुन सवार थी। अंग्रेजों ने युद्ध समाप्त होते ही आम चुनाव कर लायड जार्ज को इसलिये अपना प्रधानमन्त्री चुना कि वे जर्मनी से पाई पाई हर्जाना वसूल कर सकेंगे। फ्रांस का क्लीमेंशो भी गरम दल का ही था। हालांकि जर्मनी के प्रति उनके विचार उतने कड़े नहीं थे किन्तु हर्जाना वसूल करने के आप भी पक्ष में थे। इटली ने मा समय से लाभ उठाया। भागते भूत की लंगोटी ही भला कहकर इसने भी गरम नीति दिखलाई, विलसन की सारी चेष्टाओं पर पानी फिर गया। और हर्जाना वसूल करने के लिये छल प्रपंच से काम लिया जाने लगा।

वर्साई की संधिः—

सन् १९१८ की १२ जनवरी को पेरिस में शान्ति परिषद् की पहली बैठक हुई। इस परिषद् में ५३ राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलत हुये।

किन्तु इस परिषद् में जर्मनी तथा रूस के प्रतिनिधि को नहीं बुलाया गया था। इसी परिषद् में यह तय हुआ था कि १० राष्ट्रों की एक उपसमिति बनायी जाय जो संधि की रूपरेखा तैयार करे। विलसन ने इसका विरोध किया। किन्तु एक दिन लायड जार्ज ने उनकी अनुपस्थिति से नाजायज लाभ उठाकर एक प्रस्ताव स्वीकृत कराया जिसके अनुसार सन्धि की शर्तों के बनाने का भार लायड जार्ज, विलसन, क्लीमेंशो तथा इटली के प्रतिनिधि मि० आरलैंडो पर छोड़ दिया जाय। इन चार प्रतिनिधियों की सभा मे एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर काम न करता हो और यही कारण हुआ कि विलसन की १४ शर्तों की ओर किसी ने ध्यान न दिया।

जर्मनी की समाजवादी प्रजातन्त्रीय सरकार के विदेश मंत्री उन दिनों काउंट वकडाफराजू थे। उन्हें वर्साई बुलाया गया और ७ मई १९१९ को इन्हें शान्ति परिषद् के सम्मुख उपस्थित किया गया। इनको लक्ष्य कर क्लीमेंशो (फ्रांस के प्रधान मंत्री) ने एक भाषण दिया और युद्ध की सारी जिम्मेवारी जर्मनी पर थोपी। इसके उत्तर में जर्मन परराष्ट्र सचिव ने कहा कि जर्मनी की आज की दीन हीन दशा में सजा की बात उचित नहीं, क्योंकि उसके सामने हजारों लाखों ऐसे लोगों के जीवन का प्रश्न है जिन्होंने लड़ाई में कभी भाग नहीं लिया। पर आपकी प्रार्थना वहां कौन सुनता। आपके सामने ४०० से अधिक शर्तें पेश कर दी गईं। जो संक्षेप में इस प्रकार थीः—

(१) जर्मनी के स्थल का आठवां भाग छीन लिया जायगा। (२) आलिसस तथा लारेन के कोयले का क्षेत्र फ्रांस को मिलेगा। जिस पर फ्रांस का कम से कम १५ वर्ष तक अधिकार रहेगा। (३) पोलैंड का दक्षिणी पश्चिमी भाग तथा साइलेशिया का उत्तरी भाग जेकोस्लो-वाकिया को मिलेगा (४) यूनरमल मेंडी की जर्मनी अथवा वेल्जियम के साथ रहने की स्वेच्छा है। डैंजिग और मेमललैंड को मित्र राष्ट्रीय

एक कमीशन के अधिकार में रखा जायगा। (५) जर्मनी अपनी रक्षा के लिये १ लाख १५ हजार से अधिक सेना नहीं रख सकेगा। (६) मई सन् १९२१ तक उस मित्रराष्ट्रों को १४ अरब रुपया देना पड़ेगा और क्षति पूर्ति के सम्बन्ध में कितना रुपया और देना पड़ेगा उसके बारे में मित्रराष्ट्र बाद में निर्णय करेंगे।

इसी प्रकार अन्य भी बहुत सी अपमानजनक शर्तें थीं। सबसे भारी बात तो यह थी कि ४०० से अधिक शर्तों को स्वीकार करने के लिये जर्मनों को ५ दिन से अधिक विचारने का समय नहीं दिया गया। क्योंकि उन्हें भय था कि लूट के माल के मामले में कहीं मित्र राष्ट्रों में ही अनबन न हो जाय। जो हो २८ जून को जर्मनी की ओर से इस संधि पत्र पर हस्ताक्षर कर दिया गया। इसके बाद आस्ट्रिया तथा हंगरी के साथ भी पृथक् २ संधिया की गईं। इन दो देशों को भी काट कर छोटे २ टुकड़ों में बाँट दिया गया।

जर्मनी के साथ इस प्रकार बदला लेने की जिस प्रवृत्ति से कार्यवाही की गई उसके कारण ही संसार का चाहे अथवा अनचाहे एक विशाल युद्ध में भाग लेना पड़ा।

राष्ट्रसंघ की स्थापनाः—

राष्ट्र संघ स्वतन्त्र सरकारों की एक सभा है जिसका गठन दुनिया में शांति कायम रखने के अभिप्राय से हुआ था। गत महायुद्ध के बाद जर्मनी से पूरी तरह बदला लिया गया। अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति विलसन मित्रराष्ट्रों की इस कार्यवाही को भयावह समझते थे। किन्तु आपके विरोध के बावजूद भी कुछ न हो सका। जर्मनी से बदला लिया गया और जोर के साथ लिया गया। फिर भी राष्ट्रपति विलसन ने यह देखा कि जर्मनी के साथ जो कुछ हुआ उसे सद्भावना और सहयोग का ढोल पीटकर मिटाया जा सकता है। फलस्वरूप आपके सद्प्रयत्नों से राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। किन्तु असफलता का प्रादुर्भाव

भी साथ ही स थ हुआ। राष्ट्र संघ में रूस तथा जर्मनी को स्थान नहीं दिया गया। अमेरिका ने इसमें भाग लेना अस्वीकार कर दिया। राष्ट्र संघ लुढ़कते लुढ़काते १६३६ तक था। किन्तु जर्मनी के आक्रमण के साथ ही इसकी भी इति श्री हो गई।

रूस का विकासः—

गत महायुद्ध में अथवा उसके बाद नये राष्ट्रों की भी स्थापना हुई। आज का रूस भी गत महायुद्ध की देन है। यों तो जार की शासन प्रणाली से लोग पहले ही उकता गये थे और विप्लव की छिपे तौर पर तैयारी भी हो रही थी किन्तु युद्ध काल में रूसी क्रांतिकारियों को पूर्ण सफलता प्राप्त हो गई। रूसी राज्य क्रान्ति को ही श्रेय है कि ससार में जितनी भी राज्य क्रन्तियां हुई हैं उन सब से कम खून बहाकर इसमें सफलता प्राप्त की गई है।

यों तो रूस उस जमाने में भारत की तरह ही एक कृषि प्रधान देश था। किन्तु १६ वीं शताब्दी के अन्त में रूस को एक व्यवसायिक देश बनाने की चेष्टा क गई। इसके लिये विदेशी व्यवसायियो को रूस में कारोबार खोलने का अनुमति देदी गई। सन १६०४ में रूस ने व्यवसायिक देश बनना आरंभ किया किन्तु सन १६१४ तक रूस की विभिन्न मिलों में कुल २५ लाख मजदूर काम करते थे। पर यहां के मजदूरों की हालत बड़ी दयनीय थी। ये न तो कहीं एकत्र हो सकते थे और संगठन के लिये अथवा अधिकारियों तक अपने अभाव अभियोग पहुंचाने के लिये समाचार पत्र ही निकाल सकते थे। मजदूर जार की दृष्टि मे गुलाम से अच्छे नहीं समझे जाते थे। इन्हें दबाने के लिये जार ने योक्राना नाम की एक विशेष पुलिस की भी नियुक्ति की। जिन मजदूरों द्वारा आपसी संगठन क बढ़ाने की चेष्टा की जाती थी उन्हें या तो देश निर्वासन की या प्राण दंड की सजा मिलती थी। यहां के निर्वासित लोगों को साइबेरिया भेज दिया जाता था।

कहावत है शहीदों के खून से प्रजातंत्र की नींव मजबूत होती है। मजदूरों को ज्यों २ जार की ओर से दबाने की चेष्टा की जाती थी त्यों २ उनमें संगठन बढ़ता गया। मार्च सन् १९१७ की बात है कि रूस मजदूर स्त्रियों के किसी प्रदर्शन के अवसर पर पेट्रोग्राड (आधुनिक लेनिनग्राड) में हड़ताल हो गई। हड़ताल के तीसरे दिन २४०००० मजदूरों ने नगर की ओर कदम बढ़ाया। इनको दबाने के लिये कजाक सेना भेजी गई। किन्तु उस सेना की अपनी स्थिति इतनी खराब होगई थी कि उसे हड़तालियों से जा मिलने के लिये विवश होना पड़ा। इस प्रकार बिना किसी रक्तपात के लेनिनग्राड पर मजदूरों का अधिकार हो गया और यहीं से मजदूरों की जीत का श्रीगणेश समझना चाहिये। नगर में एक अस्थाई सरकार भी स्थापित करदी गई। लेनिन उन दिनों जर्मनी में था।। काफी प्रयत्न के बाद जर्मन सरकार ने लेनिनको रूस जाने की अनुमति देदी। लेनिन जब रूस पहुंचा तो इस सरकार को देखकर वह स्तब्ध रह गया। इसलिये उसने रूसी नेताओंको खूब फटकारा और कहा कि यह सरकार पूंजीपतियों की सरकार है आप लोगों को अभी एक और क्रान्ति करनी होगी जिससे की शासन सत्ता मजदूरों के हाथ में आये। उसने घोषणा की कि हमें किसानों को खेत तथा भूखों को रोटी देनी होगी।

अस्थाई सरकार पूंजीपतियों की सरकार थी इस लिये मजदूरों के सामने अधिक दिनों तक टिक नहीं सकती थी। हुआ भी यही। उक्त सरकार ने मित्र राष्ट्रों की ओर से जर्मनी पर आक्रमण करने की घोषणा की। किन्तु सिपाहियों के पास खाद्य सामग्री तथा वस्त्राभाव होने के कारण उन्होंने विद्रोह कर दिया। मजदूरों ने हड़ताल करदी। अस्थायी सरकार ने साम्यवादी बोलशेविकों को इस हड़ताल का दोषी ठहराया। फल स्वरूप प्रारंभ मे लोकमत लेनिन तथा बोलशेविकों के विरुद्ध हो गया और लेनिन को अपनी प्राण रक्षा के निमित किसी अज्ञात स्थान में छिप जाना पड़ा। बाद में २३ अक्टूबर को लेनिन के हस्ताक्षरों से

एक घंपणा प्रसारित हुई कि १५ दन मे पेट्रग्राड में बालशेविक सरकार की स्थापना होगी। और हुआ भी यही। ठीक १५ वे दिन १००० सुशिक्षित बोलशेविकों ने पेट्रोग्राड पर अधिकार कर लिया। अस्थायी सरकार का पता भी न चला कि वह किधर गई। इसके बाद उन्होंने मास्को भी कब्जे में कर लिया। इस प्रकार रूस में बोलशेविक राज्य की लेनिन द्वारा स्थापना कर दी गई। इसकी रक्षा के निमित्त उसने खेती को किसानों मे बाट दिया और आर्थिक दृष्टि से देश की दशा सुधारने के लिये इसने जर्मनी के साथ संधि करली।

बोलशेविक राज्य की स्थापना:—

लेनिन ने जर्मनी के साथ संधि करने की पहले से ही इच्छा प्रकट की थी। साथ ही रूस मे बोलशेविक राज्य की स्थापना से अंग्रेज तथा फ्रांसीसी व्यवसाय जो कि रूस में चल रहा था उसको खतरा उत्पन्न हो गया था। इसलिये विदेशी पूंजीवादी देशों ने रूस के विरुद्ध आक्रमण करने का निश्चय किया। और युद्ध से बचा हुई दो लाख मित्र राष्ट्रीय सेनाओं ने अचानक इसे चारों ओर से घेर लिया। पहले तो रूसका भविष्य अन्धकार पूर्ण दीख पड़ता था किन्तु वर्साई की सन्धि हो जाने के फल-स्वरूप फ्रांसीसी तथा अमेरिकन सेनायें अपने देश को लौट गईं। अब रूस को थोड़ी आशा बंधी। सेना संगठन का भार लेनिन ने ट्राटस्की के सुपुर्द किया। उसने थोड़े समय में ही ४ लाख सैनिकों की सेना तैयार करली और इन्हीं के जरिये उसने २॥ वर्ष तक विभिन्न १६ मोर्चों पर मित्र सेनाओं का सामना किया। इसी युद्ध में मित्र सेनायें हार गईं और रूसियों को विजय प्राप्त हो गई। इस युद्ध मे रूस के २ लाख सैनिक खेत रहे।

युद्ध कालीन साम्यवाद:—

जिन दिनों मित्र राष्ट्रों ने रूस पर आक्रमण किया था उन दिनों युद्ध जारी रखने के अभिप्राय से रूस में युद्ध कालीन साम्यवाद की

स्थापना की गई। इसके अनुसार किसानों की सारी उपज पर कब्जा कर, उन्हें थोड़ा-सा अन्न दिया गया। उनके कर्जे माफ कर दिये गये और देश भर का वैयक्तिक धन सरकारी नियंत्रण मे ले लिया गया। लोग इससे बहुत परेशान हो गये। सरकार के प्रति लोगों में घृणा फैल गई। बालशेविक सरकार के केवल मजदूर सरकार होने के कारण १० लाख किसान बिना भोजन तड़प तड़प कर मर गये। इस बात का लेनिन पर भारी प्रभाव पड़ा। उसने तत्कालीन साम्यवाद की प्रथा मे कुछ सुधार किये और इसी सुधार को तभी आर्थिक नीति से सम्बोधित किया जाता है। इसके अनुसार किसानों से बलपूर्वक अन्न लेने की प्रथा बन्द कर दी गई। व्यवसाय पर से सरकारी नियंत्रण ढीला कर दिया गया। लोगों को छोटे २ कारखाने चालू करने का अधिकार दे दिया गया। भोजन के टिकट मिलने बन्द हो गये। उनके स्थान पर मुद्रा पद्धति जारी कर दी गई। विदेशी कम्पनियों को रूस में व्यापार करने की अनुमति दे दी गई। इस आदेश के अनुसार रूस में व्यापार करने वालों को नेपमैन तथा कृषि इत्यादि से धन एकत्र करने वालों का कुलक कहा जाने लगा।

रूस की नई आर्थिक-नीतिः—

बालशेविक सरकार ने सम्पन्न लोगों पर भारी कर लगाकर उनका धन हड़प लेना चाहा। इससे वह आदर्श च्युत अवश्य हो गई किन्तु उसने गांवों की विषम परिस्थितियों पर अधिकार कर लिया। नगर तथा गांव दोनों की दशा सुधर गई। १९२० में रूस का निर्यात केवल १४ लाख रूबल का था वही १९२१ में २०२ लाख का तथा १९२३ मे २०५८ लाख रूबल का हो गया।

लेनिन का चरित्रः—

लेनिन का असली नाम एलिच उलियानोव था। यह बचपन से ही क्रान्तिकारी विचार रखता था। इसके पिता स्कूल के इंस्पेक्टर थे। किन्तु इसके जीवन में पिता की नौकरी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसकी

कार्यवाहियों से घबरा कर जार की सरकार ने इसे साइबेरिया में निर्वासित किया। तीन वर्ष रहकर वह वहां से युरोप चला गया और १८ वर्ष तक वहीं रहा। लेनिन शरीर से दुबला पतला था। कद मझोला था। उसका स्वभाव बिल्कुल शान्त था। खानपान के सम्बन्ध में उसकी आदतें पुरानी थीं। काम से वह थोड़ा भी नहीं घबराता था। विपत्ति काल में धैर्य्य रखने की उसमें अद्‌भुत क्षमता थी। स्मरण शक्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि लेनिन अपना शानी नहीं रखता था। यह केवल लेनिन का ही व्यक्तित्व था जिससे रूस को संगठित किया। सन् १९१८ में किसी ने उसे गोली मारी। गोली उसके गले में लगी थी। यह निकाली नहीं गई। फिर भी इस घटना से उसकी हिम्मत कम नहीं हुई। रूस में युद्ध कालीन साम्यवाद तथा इसके बाद नयी आर्थिक नीति जारी करने का श्रेय इसी व्यक्ति को है। १९२३ में लेनिन को लकवा की बीमारी हो गई, फिर भी वह राज्य का काम देखने से नहीं चूकता था। सन् १९२४ के जनवरी माह में लेनिन की मृत्यु हो गई।

लेनिन के उत्तराधिकार का प्रश्न

लेनिन जब तक जीवित रहा तब तक उसके व्यक्तित्व के सामने अन्य किसी नेता को प्रमुखता प्राप्त न हो सकी। उसके मरने के बाद जीनोवीफ़, कामनेव, स्टालिन तथा ट्राटस्की ऐसे चार व्यक्ति थे जो उसके स्थान पर जाने की चेष्टा कर रहे थे। किन्तु ट्राटस्की के समक्ष किसी अन्य व्यक्ति को न तो शासन सम्बन्धी ही कोई ज्ञान था और ना ही सगठन करने की क्षमता ही। लेकिन इन गुणों के साथ २ उसमें एक भारी दोष यह था कि उसका स्वभाव थोड़ा उग्र था। इस कारण उसके अनेकों शत्रु उत्पन्न हो गये थे। स्टालिन उन दिनों समाजवादी संगठन का सेक्रेटरी था और इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह एक अच्छा नौकर है। उसे किसी भी प्रकार की प्रमुखता प्राप्त नहीं थी। लेकिन ट्राटस्की का अत्यधिक प्रभाव होते हुए भी स्टालिन ही लेनिन के

बाद सफल हो सका। इसका कारण था:—(१) स्टालिन तथा ट्राटस्की दोनों दो विचार धारा के व्यक्ति थे। स्टालिन का कहना था कि रूस वर्तमान परिस्थियों को बिना ध्यान में रखे अगर कुछ करेगा तो विश्व में उसका टिक सकना सम्भव नहीं। किन्तु रूस में जो कुछ हो रहा था उससे ट्राटस्की क्षुब्ध था। उसका कहना था कि रूस अपने आदर्शों से च्युत होता जा रहा है। जनता को ट्राटस्की के इस कथन से विरोध था। इसलिये उसको स्टालिन की कही हुई बात ही अच्छी लगी। (२) लेनिन के जीवन काल में हा सम्पूर्ण विश्व में क्रान्ति करने की चेष्टा की गई थी। परन्तु इसे बन्द कर दिया और उसके स्थान पर रूस के लिये इसने राष्ट्रीय समाजवाद का परीक्षण आरम्भ किया। जिसके अनुसार (अ) व्यवसायिक उत्पत्ति के साधनों पर सरकारी नियंत्रण किया गया। (ब) राष्ट्र की सहायता द्वारा नेपमनों को कच्चा माल पहुँचाने की प्रथा बन्द कर दी गई। (स) राष्ट्र के सभी व्यवसायों को मजदूरों के हाथ में दे दिया गया। कारखानों की देख रेख करने के लिये राष्ट्र के नियत्रण में पृथक २ कमेटियाँ बना दी गईं।

उक्त कार्यों से स्टालिन के समर्थकों की संख्या बहुत बढ़ गई और स्थिति यहा तक पहुँच गई कि ट्राटस्की को रूस छोड़कर भाग जाना पड़ा।

समाजवाद का परीक्षण:—

सन् १९२३ में रूस में बालशेविक सरकार का नया शासन विधान बना। जिसके अनुसार सम्पूर्ण रूस को एक बड़े संघ का रूप दे दिया गया और इसका नाम रखा गया "समाजवादी सोवियत प्रजातन्त्री संघ" इसी को सक्षेप में यू० एस० एस० आर० के नाम से पुकारा जाता है। इस रूसी संघ में १० करोड़ व्यक्ति बसते हैं, तथा इसमें विभिन्न ११ स्वायत्त शासन वाले प्रजातन्त्री राष्ट्र सम्मिलित हैं। इन सभी राष्ट्रों को अपने लिये पृथक् २ शिक्षा, सभ्यता आदि के विकास की चेष्टा

करने के बावजूद भी आर्थिक संगठन तथा आर्थिक विकास की दृष्टि से एक ढंग के नियम से ही शामिल होना पड़ता है।

रूस में पंचायतों का शासन —

वर्तमान रूसी शासन का श्रीगणेश स्टालिन के समय में हुआ। अब तक स्टालिन ने निस्सन्देह कारखानों तथा उत्पत्ति के सभी साधनों को मजदूरों के हाथ में दे दिया था किन्तु शासन तथा संगठन की दृष्टि से यह काम अभी अधूरा था। राज्य क्रान्ति के बाद भी निस्सन्देह श्रम समितियां स्थापित की गई थीं किन्तु उनका गठन सुन्दर ढंग से नहीं किया गया था। स्टालिन ने इस ओर विशेष ध्यान दिया और गांव २ नगर २ श्रमसमितियों की स्थापना कर उनके ऊपर अखिल रूसी श्रम समिति का नियन्त्रण कर दिया गया। इस रूसी समिति का वार्षिक अधिवेशन वर्ष में एक बार होता है और उसके पदाधिकारियों का निर्वाचन भी वार्षिक ढंग से ही होता है। इन उपर्युक्त श्रमसमितियों में किसान तथा मजदूर दोनों ही हैं किन्तु मजदूर बहुसंख्यक हैं।

समाजवादी दल का बोल वाला:—

रूस में सन् १९१७ से लेकर आज तक समाजवादी दल का ही बोल वाला रहा है। रूस के प्रत्येक भाग में इसके सदस्य अवश्य मिलेंगे, इन सदस्यों का जीवन त्यागमय होता है। इनके लिये पार्टी के कड़े नियंत्रण में रहना आवश्यक समझा जाता है। इस दल की केन्द्रीय कार्य समिति के सदस्य रूस का मंत्रि-मंडल बनाते हैं। पार्टी के मंत्री की हैसियत से स्टालिन रूस का अधिनायक (Dictator) था। सन् १९३८ के विधान के अनुसार उसे रूस का राष्ट्रपति मान लिया गया।

व्यवसाय संघ -रूस की विशेषता है कि सभी कारखानों का

नियन्त्रण तथा संचालन करने के लिये व्यवसाय संघ नामक संस्थायें बनी हुई हैं। कारखानों का पूरा प्रबन्ध इनके ही हाथ में है।

संयुक्त राष्ट्र का राजनैतिक विभाग

रूस में बालशेविक राज्य की चर्चा के साथ ही साथ वहां की एक ऐसी संस्था का नाम लिये बिना नहीं रहा जा सकता जिसका नाम संयुक्त राष्ट्र का राजनैतिक विभाग कहा जाता है। यह एक प्रकार का सैनिक संगठन है। इसका जाल लगभग सम्पूर्ण रूस में फैला हुआ है। इसे असाधारण अधिकार प्राप्त है। यह अपराधियों को दंड तक दे सकती है। इसके दण्ड बड़े कड़े होते हैं। कुछ लोगों का तो यहां तक कहना है कि यह संस्था झूठी अफवाहें फैलाकर तमाम रूस को इसलिये आतंकित किये हुए है कि समाजवादी परीक्षण में कोई बाधा पहुंचाने न पाये।

प्रथम पंचवर्षीय योजनाः—

"रूस एक कृषि प्रधान देश है। इसके १० लाख व्यक्तियों का भूख से मर जाना वास्तव में खेद की बात है।" यह बात प्रत्येक रूसी क्रान्तिकारी के मन में आ रही थी इसलिये देश को लेनिन ने व्यवसायिक देश बनाना आरम्भ किया। इसे आंशिक सफलता भी मिल चुकी थी किन्तु इसके मरने के बाद ट्राटस्की तथा स्टालिन में चख चख हो जाने के कारण देश की स्थिति में सुधार नजर नहीं आता था। किन्तु ट्राटस्की के रूस छोड़ देने के फल स्वरूप रूस पर स्टालिन का स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया। यों तो सन १९२५ में आर्थिक निर्माण का कार्य आरम्भ कर दिया गया था अब स्टालिन ने रूस के प्रति अपने तीन प्रमुख उद्देश्य बनायेः—

(१) रूस को पूर्ण रूप से आत्म निर्भर बनाना।

(२) सामुहिक कृषिप्रथा को जारी करना।

(३) सम्पूर्ण रूस को शिक्षित बनाना।

स्टालिन की सरकार ने उक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक बहुत बड़ा कार्यक्रम बनाया। जिसे ५ वर्षों में पूरा करने की घोषणा की गई। लोगों का सन्देह होने लगा कि यह काम कभी पूरा न हो सकेगा। लेकिन रूस के कम्यूनिस्ट दल ने उक्त योजना को कार्यान्वित करने का भार अपने हाथ में लिया और इसे सन् १६२८ में अमली जामा पहिना दिया। यही रूस की प्रथमपंचवर्षीय योजना के नाम से पुकारी जाती है।

उन दिनों रूस में नया परिवर्तन हुआ था इस लिये विदेशी पूँजीपति सरकारें रूस की व्यवसायिक उन्नति के लिये भला कब आर्थिक सहायता कर सकती थीं। इस लिये 'राष्ट्रीय ऋण कोष' खोला गया। प्रत्येक मजदूर से अनुरोध किया गया कि वह अपनी १ माह की आय चार किश्तों में इस कोष में दे। मजदूरों की ओर से इस कर्ज को पूरा करने का अजीब उत्साह दिखलाया गया। और चारों ओर से ध्वनि आने लगी कि ५ वर्ष का काम चार वर्ष में। जनता में आशा तथा उत्साह की लहर एक साथ ही दौड़ गई। परिणाम यह हुआ कि अमरीका से कुशल यान्त्रिक मंगाये गये, एक विशाल पैमाने पर बिजली पैदा की गई, व्यवसायिक नगर बसाये गये और पंचवर्षीय योजना को वास्तव में चार वर्ष में ही सफलता प्राप्त हो गई। १६३२ के अन्त तक कोयला, पेट्रोल, लोहा इत्यादि का उत्पादन दूना हो गया।

उक्त पंच वर्षीय योजना के अनुसार व्यापार को भी काफी प्रोत्साहन दिया गया। सन् १६२८ तक रूस का १/४ व्यापार व्यक्तिगत रूप से लेन देन करने वाले व्यापारियों के हाथ में था। अब व्यापारियों को सहायता पहुंचाने के लिए सरकार की ओर से तीन प्रकार की समाजवादी व्यापारिक संस्थाओं को स्थापित किया गया:—

(१) खरीददारों का सहयोग भंडार। १६३२ तक रूस का १/४ व्यापार इनके हाथ से चला गया।

(२) सरकारी दूकानें-उक्त अवधि में ७० हजार सरकारी दूकानें खोली गईं।

(३) मजदूरों की दूकानें (इनका सम्पूर्ण लेन देन कारखाने द्वारा बाटे गये टिकटों से होने लगा।) धनी व्यक्तियों के लिए पृथक तथा विदेशियों के लिये पृथक दूकानें खोली गईं। पहले तो मजदूरों को टिकट दिया जाता था किन्तु बाद में उन्हें कार्य के अनुसार वेतन दिया जाना आरम्भ हुआ।

कृषि—सन् १६२७ तक रूस की बोई जाने लायक जमीन २॥ करोड़ खेतों में बंटी थी। इस कारण उत्पादन ठीक नहीं हो पाता था। साथ ही धनी किसानों के यहाँ गरीब किसान नौकरी करने लग गये थे। इसलिये सरकार ने वहां की कुछ जमीन को अपने नियन्त्रण में लेकर ठीक उसी प्रकार खेती करवाना आरम्भ किया जिस प्रकार मिल में मजदूर काम करते हैं और कुल जमीन को विभिन्न गावों के किसानों में बराबर २ बाट दिया गया। इनमें किसान अपने हल बैल से काम करते थे। पर-इसका प्रभाव कुछ अच्छा नहीं हुआ। रूस पुनः एक युद्धक्षेत्र बन गया। चारों ओर से सम्पन्न किसान बिगड़ खड़े हुये। अन्त में सन् १६३० में स्टालिन को एक घोषणा कर उक्त योजना में थोड़ी छूट देनी पड़ी। बाद में धीरे २ किसानों को भूमि के एकीकरण का लाभ मालूम हुआ और सन् २६३२ तक कृषि उत्पादन से थोड़ी वृद्धि अवश्य हुई।

शिक्षा—रूस में प्रथम पंचवर्षीय योजना को शिक्षा के क्षेत्र में अत्यधिक सफलता मिली। रूस में सन् १६१४ में जहा पढ़े लिखे लोगों की सख्या २७ प्रतिशत थी वह सन १६३२ तक बढ़ कर ६१ प्रतिशत हो गई। १६३५ में हाई स्कूलों में पढ़ने वालों की संख्या ४५ लाख ५० हजार थी। धर्म आदि की पढ़ाई स्कूलों से बिल्कुल उठा दी गई। छात्रों को हाईस्कूलों में भाषा तथा साहित्य के साथ २ श्रम इत्यादि की भी शिक्षा दी जाती थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजनाः—

प्रथम पंच वर्षीय योजना में सफलता प्राप्त कर रूस को एक दूसरी पंच वर्षीय योजना चालू करने की आवश्यकता पड़ी। कई क्षेत्रों में अभी रूस को आशातीत सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। कपड़ा मिलें अभी बिल्कुल मोटा माल तैयार करती थीं, मास्को की आबादी बड़ी सघन थी, यहां तक कि एक २ कमरे में पांच २ व्यक्ति रहते थे। रेलवे का अभी पूर्ण विकास नहीं हुआ था और ऐसी ही कई बातें थीं जिनका पूरा किया जाना आवश्यक था। इसलिये रूस ने दूसरी पंच वर्षीय योजना जारी की। जिसका मुख्य उद्देश्य यों था:—

(१) खरीददारों की साधारण उपयोग की वस्तुओं को तीन गुना करना।

(२) व्यापार को २॥ से तीन गुना करना।

(३) कीमत को ४० प्रतिशत तक कम करना।

(४) राष्ट्र की ओर से भोजन पाने वाले लोगों की संख्या में वृद्धि करना।

(५) कर्मी वेतन में २६% गुना वृद्धि करना।

(६) राष्ट्रीय और सहयोग भंडारों की संख्या को ३७ प्रतिशत करना।

इस योजना के चालू किये जाने के प्रथम दो वर्षों तक लोगों ने काफी उत्साह दिखलाया। किन्तु बाद में उत्साह ढीला पड़ने लगा। अब तक विदेशों में रूस के इस नये परीक्षण से जो सनसनी मची थी वह धीरे २ शान्त हो गई और विदेशों से इसका सम्बन्ध स्थापित होने लग गया। परिणाम यह हुआ कि सन् १६३६ तक रूस का दावा हुआ कि उसकी शक्ति के सामने किसी अन्य राष्ट्र की शक्ति नहीं।

रूस तब और अब:—

रूस ने सन् १९३२ के बाद अपनी सेना क सुसंगठित करना इसलिये आवश्यक समझा कि विदेशों में उसके काफी शत्रु थे। कुछ ही दिनों में रूस हवाई शक्ति में दुनिया के राष्ट्रों में अग्रगण्य गिना जाने लगा। जिन दिनों युद्ध की आग सुलग रही थी और हिटलर यूरोप को नहीं प्रत्युत परोक्ष रूप से अखिल विश्व को ललकारता दिखलाई पड़ता था उस समय ब्रिटेन की आँख रूस के साथ संधि करने पर लगी हुई थी। किन्तु ब्रिटेन असफल रहा और जर्मनी ने बाजी मार ली। दुनिया ने आश्चर्य के साथ सुना कि २५ सितम्बर सन् १९३९ को रूस तथा जर्मनी में न केवल अनाक्रमण सन्धि हो गई प्रत्युत उन्होंने एक दूसरे की आपसी लेन देन से भी सहायता करने विषयक समझौता किया है। इसका प्रतिपादन किस प्रकार और कब हुआ इसका वर्णन एक पृथक् परिच्छेद में किया जायगा। रूस को अन्त में जर्मनी के साथ भी लड़ना पड़ा और इसका परिणाम यह हुआ कि जर्मनी दुनिया से मिट गया।

युद्ध के बाद से रूस संसार के बलिष्ट शक्तियों में है और आज हम देखते हैं कि अमेरिका तथा ब्रिटेन प्रतिपल तथा प्रत्येक बात में उसका मुँह देखते हैं। रूस आज भी मित्रों की कई बातों का निर्भीक भाव से उल्लंघन कर देता है, रूस को 'भुलावा' तथा 'बहलावा' देने के लिये उसे कितने ही सम्मेलनों में आमंत्रित किया गया किन्तु आज भी रूस यही जानता है कि पूंजीवादी देश एक श्रमिक देश के हितैषी नहीं हो सकते। अगर अमेरिका यह कहता है कि युद्ध जीतने का श्रेय उसके परमाणु बमों पर है तो मास्को से घोषणा होती है कि रूस ने परमाणु बम का परीक्षण कर लिया है और इससे और अधिक कार्यवाहियां इस सम्बन्ध में हो रही हैं, रूस अभी हाल में १८०० मील के मोर्चे पर लड़ चुका है और जैसा कि उसके नवीन पंचवर्षीय योजना में घोषणा

की गई है वह हर समय किसी आकस्मिक घटना का सामना करने के लिये उद्यत है। सन् १६१८ के बाद का रूस निर्बल था किन्तु आज सन् १६४४ के बाद का रूस सबल एवं सशक्त है।

विजित जर्मनी

यूरोपीय महायुद्ध जो सन १६१४ से सन् १६१८ तक जर्मनी ने लड़ा उसका परिणाम बड़ा भयंकर हुआ। उसकी आर्थिक स्थिति एक दम बिगड़ गई। इधर मित्रराष्ट्रों ने जर्मनी से जो क्षति पूर्ति ६५ अरब रुपये में वसूल करने का निश्चय किया उससे उसकी कमर ही टूट गई। जर्मनी के पास से कई उपजाऊ प्रान्त छिन जाने के कारण उसकी आन्तरिक स्थिति ने एक विकराल रूप धारण कर लिया। जर्मनी ने मित्र राष्ट्रों से प्रार्थना की कि वर्तमान स्थिति में जर्मनी को कम से कम २ वर्ष तक जुर्माने की एक भी किश्त नहीं देने की छूट दी जाय। इंग्लैंड ने जर्मनी की प्रार्थना मान ली। किन्तु फ्रांस को धैर्य और संतोष नहीं था इसलिये उसने जर्मनी पर आक्रमण कर रुहर प्रदेश पर अधिकार कर लिया। रुहर प्रदेश के निकल जाने से जर्मनी की स्थिति और अधिक दयनीय हो गई। वहां की मुद्रा तथा विनिमय पद्धति पूर्णतया नष्ट हो गई। एक डालर के बदले ४५०० मार्क मिलने लगे। जर्मनी में इन दिनों प्रतिनिधि सत्ता (एक ढंग का शासन) दो व्यवस्थापिकायें चालू कर दी गई थीं। जर्मनी का प्रधानमंत्री स्ट्रैसमैन तथा अर्थ सचिव डा० शाख्त बने। डा० शाख्त ने स्थिति को काबू में करने के लिये जर्मनी में एक नयी मुद्रापद्धति जारी की जिसके फलस्वरूप जर्मनी में पुनर्निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ।

भंग योजना का सूत्रपातः—

अपने देश को व्यवसायिक दृष्टि से समुन्नत बनाने के लिये जर्मनी ने विदेशों से लगभग ११ अरब रुपये उधार लिये। देश का पुनर्निर्माण

लिये दो योजनायें—देवास योजना तथा भंग योजना उपस्थित
। इसमें से पहली योजना को असंभव मानकर छोड़ दिया गया।
नुसार जर्मनी को अगणित वर्षों तक प्रति सेकेंड ८० मार्क
का कर्ज चुकाना पड़ता था। किन्तु दूसरी योजना के अनुसार
। जर्मन को २५००० मार्क विदेशों को क्षति पूर्ति के रूप में
पड़ता था। इसलिये इस दूसरी योजना को ही चालू कर दिया

न्तु सन् १९३० का वर्ष जर्मनी के लिये बड़ा संकट पूर्ण सिद्ध
जर्मनी अब तक अपना माल अमेरिकन माल के सामने अमेरिका
स्ते दाम में बेचा करता था। वहाँ के पूंजीपतियों ने जब देखा
शी माल के आयात के कारण उनकी कम्पनियों में नफा नहीं
है तो उन्होंने विदेश से आने वाले मालों पर इतनी अधिक
लगा दी कि जर्मनी जैसे देश के लिये वह कर देना बिल्कुल
र था। परिणाम यह हुआ कि जर्मन कारीगर अपने माल को
ा के बाजार में नहीं भेज सकते थे इस लिये जर्मनी में सामान
हो गया इसका प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि राष्ट्रीय ऋण दूना हो
आर्थिक स्थिति जर्मन अधिकारियों के नियंत्रण से बाहर हो गई
ुलाई सन् १९३१ में जर्मनी का सब से बड़ा बैंक फेल हो गया।
रूप जर्मनी के सभी बैंक दो दिन के लिये बन्द कर दिये गये।
२ में तो जर्मनी की हालत पहले से भी भयावह हो गई, चारों ओर हाहा
मच गया। जर्मनी की सरकार का दिवाला निकलने के साथ ह।
ाख व्यक्ति बेकार पड़ गये थे। सच पूछिये तो इन्हीं परिस्थितयों
र्मनी से साम्यवाद की जड़ उखाड़ कर राष्ट्रीय समाजवादी दल की
ना की।

टर महान्:—

नाजी पार्टी को प्रमुखता दिलाने का श्रेय हिटलर को है। इसका
सन् १८८९ में आस्ट्रिया में हुआ था। १२ वर्ष की आयु में एक

अनाथ बालक की हैसियत से वह एक कला विद्यालय में भर्ती होने के लिये गया किन्तु उसे भर्ती नहीं किया गया। परिणाम यह हुआ कि वह मजदूर की तरह काम करने लगा। बरसों तक इसी स्थिति में रहने के बाद वह युद्ध में एक साधारण सिपाही की हैसियत से भर्ती हुआ। युद्ध में उसे गोली लगी। वह अस्पताल में लाया गया और युद्ध समाप्त हो जाने के बाद वहीं से वह सेना से बर्खास्त कर दिया गया।

सन् १९२० में वह एक राजनीतिक पार्टी का सदस्य बना जिसके कुल ६ सदस्य थे और यह सातवाँ सदस्य हुआ। इस दल के कुल २५ ध्येय थे। १९२० से लेकर १९३२ तक इस दल ने हिटलर के नेतृत्व में काम किया। एक बार ऐसा भी हुआ कि इस ने मुसोलिनी की देखा देखी बर्लिन की ओर कूंच किया किन्तु इसके जलूस पर गोली बरसा कर तितर बितर कर दिया गया और हिटलर को गिरफ्तार कर ५ वर्ष के लिये जेल भेज दिया गया। किन्तु कुछ ही माह के पश्चात् वह जेल मुक्त कर दिया गया। इस बात ने सिद्ध कर दिया कि हिटलर में संगठन करने की अपूर्व शक्ति थी यहां तक कि सन् १९३० में जब व्यवस्थापिका सभा (राइस्टेग) का चुनाव हुआ तो १०५ नाजी इस में चुने गये और ६५ लाख वोट इस दल को प्राप्त हुये।

हिटलर के सामने अब एक उज्वल भविष्य था। इसने अपने दल की एक सेना भी बना डाली। हिटलर ने घूम २ कर यह कहना आरम्भ किया कि जर्मन आर्यों की विशुद्ध संतान है अगर राज्य की बागडोर इनके हाथ में देदी गई तो जर्मनी का एक भी व्यक्ति बेकार नहीं रह पायगा। जर्मन स्त्रियों का काम होगा कि वे अधिक संख्या में संतान उत्पन्न करें। और नाजी जर्मनी में उन लोगों को कदापि नहीं रहने देंगे जिनके कारण उनको हारना पड़ा और जो राष्ट्र का खून चूसना अपना धर्म समझते हैं।

हिटलर की सफलता:—

जर्मनी के राष्ट्रपति उन दिनों हिंडेनबर्ग थे। वे साम्यवाद

तथा नाजीवाद दोनों के विरोधी थे। उन्हों ने वान पेपन, राष्ट्रवादी को प्रधानमन्त्री बनाया लेकिन फिर भी नाजी कुचले नहीं जा सके। सन् १९३२ में रीशटेंग में २३० नाजी सदस्य चुने गये। पेपन ने हिटलर से प्रार्थना की कि तुम मंत्रि-मंडल में सम्मिलित हो जाओ, किन्तु उसने इसे अस्वीकार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि उसने रीशटेंग को बर्खास्त कर दिया और जर्मनी में राष्ट्रीय अधिनायकत्व जारी करने का निश्चय किया। नाजियों को दबाने के लिये वान पेपन ने अनेकों चेष्टायें कीं। किन्तु असफल होकर उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा। आपके बाद शीलर को प्रधान मंत्री बनाया गया किन्तु शीलर भी असफल रहा। अन्त में विवश होकर हिंडेनबर्ग ने हिटलर को सन् १९३३ के ३० दिसम्बर को जर्मनी का प्रधान-मंत्री बनाया। यहीं से हिटलर शाही का आरंभ हुआ।

जर्मनी का अधिनायक हिटलरः—

हिटलर ने प्रधान मन्त्री बनते ही जर्मनी से साम्यवादियों की जड़ हिलाने की ठानी। इन्हीं दिनों एक आकस्मिक घटना हो गई। जर्मन रीशस्टैग का भवन जल गया। इसे जलाने का दोष साम्यवादियों के ऊपर लगाया गया और जर्मन जनता साम्यवादियों के बिल्कुल विरुद्ध हो गई। परिणाम स्वरूप सन १९३६ में नाजियों को बहुत बड़ा मत मिला और २३ मार्च १९३६ को रीशस्टैग के एक प्रस्ताव के अनुसार हिटलर को जर्मनी का डिक्टेटर (अधिनायक) घोषित कर दिया गया।

अधिनायक बनकर हिटलर ने सभी श्रमिक-संघों को तोड़ दिया तथा साम्यवादियों को जेल में डाल दिया। कैथोलिग संस्थाओं को स्पष्ट रूप से चेतावनी दे दी गई कि राजनीति तथा शिक्षा में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा। प्रोटेस्टेट लोगों को भी ऐसी ही चेतावनी देदी गई। छापाखाना, समाचार पत्र, सार्वजनिक शिक्षा तथा प्रचार के सभी साधनों पर नाजियों का नियंत्रण हो गया। यहूदियों की आबादी जर्मनी

में एक प्रतिशत थी। पर वहा के सभी डाकर तथा ऐसे ही उपयोगी क्षेत्रो में यहूदियों की संख्या १० प्रतिशत थी। हिटलर ने यहूदियो का दमन करना आरंभ कर दिया।

महान नेता हिटलर:—

जर्मनी की भूरी सेना जिसकी सहायता से हिटलर को सफलता मिली थी और जिसे एस० एस० के नाम से पुकारते हैं, की संख्या २५ लाख तक पहुँच गई थी। हिटलर को इस सेना से बड़ा डर लगा। उसने इसे तोड़ देने का निश्चय किया। इस आदेश का विरोध करने के अपराध में उसने अपने घनिष्ट मित्र रोहम को जो उस सेना का कप्तान था लगभग २०० नेताओं के साथ मरवा डाला। वान शीलर को भी सपत्नीक मार डाला गया। इस घटना के कुछ माह बाद ही हिंडेनबर्ग की मृत्यु हो गई। फलस्वरूप सन् १९३५ में हिटलर जर्मनी का राष्ट्रपति प्रधान मंत्री तथा महान नेता घोषित कर दिया गया। गोयबल्स, (प्रचार मंत्री) गोयरिंग (फील्ड मार्शल) हेस (हिटलर) का सहकारी तथा नाजी दल का उपनेता भी हिटलर के साथ ही नाजी संगठन में लग गये।

जर्मनी का पुनरगठन:—

सन १९३४ में जर्मनी ने स्पष्ट शब्दों में घोषित कर दिया कि क्षतिपूर्ति के रुपये वह किसी भी देश को नहीं देगा। किन्तु अमेरिका से उसने जो ऋण लिया है उसे अवश्य चुकायेगा। इस ऋण को चुकाने के लिये उसने एक बहुत बड़ा कार्यक्रम तैयार करवाया और उसे क्रियात्मक रूप दे दिया। नगरों के लाखों व्यक्तियों को खेती बाड़ी करने के लिये गावों में बसाया गया और व्यापारिक उन्नति की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

महत्वाकाक्षी हिटलर:—

हिटलर ने जब देखा कि इटली द्वारा एबिसीनिया पर अधिकार कर

लिये जानें के बाद किसी राष्ट्र ने चूं तक नहीं की तो उसने भी अपने देश की सीमा विस्तार तथा आर्थिक उन्नति के अभिप्राय से राइनलैंड पर आक्रमण कर दिया और बिना किसी खून खराबी के उसने राइनलैंड पर अधिकार जमा लिया। फ्रांस ने हिटलर के इस कार्य को बुरा अवश्य कहा किन्तु अन्य किसी राष्ट्र ने चूं तक नहीं की। समय ही किसी राष्ट्र या जाति के उत्थान में एक व्यापक अर्थ रखता है। आस्ट्रिया के प्रश्न को लेकर इटली तथा जर्मनी में मत भेद चल रहा था किन्तु राइन-लैंड तथा एबिसीनिया के अधिकार में लिये जाने पर जर्मनी तथा इटली को एक दूसरे का समर्थन प्राप्त था। बस इसी बात को लेकर हिटलर मुसोलिनी में एक संधि होगई और इस के बाद घोषणा कर दी गई कि उक्त दोनों देश प्रत्येक दशा में एक दूसरे के साथ रहेंगे।

जर्मनी तथा जापान में सन १९३५ में एक संधि हुई थी जिसके अनुसार रूस द्वारा जापान पर आक्रमण किये जाने पर जर्मनी ने जापान का पक्ष लेने का आश्वासन दिया था। इसी संधि को ऐंटीको-मिटर्न पैक्ट कहा जाता है। इटली भी इस गुट्ट में आ मिला और इस प्रकार तीन राष्ट्रों का एक गुट्ट धुरी राष्ट्र के नाम से पुकारा जाने लगा। नवम्बर सन् १९३७ में ब्रिटेन के मन्त्री लार्ड हैलिफैक्स जर्मनी गये। आपने हिटलर से भेंट भी की और फिर उसकी महत्व-कान्क्षाओं का पता लगा सके। आपकी इस यात्रा के कुछ दिनों बाद ही हिटलर की दृष्टि आस्ट्रिया पर पड़ी। आस्ट्रिया पिछले युद्ध में जर्मनो से अलग कर दिया गया था और हिटलर की वह जन्म-भूमि थी। आस्ट्रिया के नाजी उसे जर्मनी का एक भाग बना देना चाहते थे। इस लिये उन्होंने तत्कालीन आस्ट्रियन राष्ट्रपति डालफस को उनके इस कार्य के विरोधी थे मार डाला इसके बाद डालफस के स्थान पर डा० शुशनिग नियुक्त हुए। आप एक बड़े अच्छे राज-नीतिज्ञ थे और फूंक २ कर पैर रखते थे।

इन्हीं दिनों ब्रिटेन के कान खड़े हुये। ब्रिटेन के परराष्ट्र मंत्री

ईडन ने सन् १९३७ में इसलिये अपना पद त्याग कर दिया कि ब्रिटेन को अन्तर्राष्ट्रीय मामले में कठोर नीति अपनाना स्वीकार नहीं था।

हिटलर इस मामले से बिल्कुल निडर हो गया कि उसके मामले में ब्रिटेन हस्तक्षेप करेगा। उसने अपने राजदूत वानपेपन को आस्ट्रिया भेजकर डा० शुशनिग को मित्रता का बहाना बनाकर अपने निवास स्थान पर बुलवाया। लेकिन यहां आकर शुशनिग ने अपने को एक कैदी के रूप में पाया। काफी डांटने फटकारने के बाद हिटलर ने उसे जाने दिया और बाद में आस्ट्रिया को पुलिस का अध्यक्ष एक नाजी एम इनकार्ट को बना दिया। अब आस्ट्रिया में नाजियों का प्रभाव बढ़ने लगा। फलस्वरूप आस्ट्रिया को जर्मनी में मिला देने के प्रश्न पर जनमत लिये जाने की डा० शुशनिग ने घोषणा की। हिटलर को इस बात से बड़ा क्रोध आया और उसने २॥ घंटेकी मुहलत देते हुये उससे पदत्याग करने तथा जनमत स्थगित करने की मांग की। डा० शुशनिग क्या करता। लाचार हो उसने ऐसा ही किया। किन्तु ठीक दूसरे दिन वह गिरफ्तार कर लिया गया और आस्ट्रिया पर जर्मन अधिकार हो गया। इस प्रकार १२ मार्च सन् १९३८ को जर्मनी ने अपनी गत महायुद्ध की खोई हुई सम्पत्ति को जीत लिया। अब जर्मनी की आबादी ७॥ करोड़ हो गई। इसे २५ करोड़ रुपयों का शुद्ध सोना हाथ लगा और लोहा तथा हवाई जहाज निर्माण में काम आने वाली वस्तु मैग्नेसाइट का तो वह मानो राजा हो गया।

जेकोस्लोवाकिया का अपहरण:—

१९१४ के महायुद्ध के बाद जेकोस्लोवाकिया एक समृद्ध देश बन गया था। इसमें निस्सन्देह जर्मन, पोल तथा हंगेरियन बसते थे किन्तु जेकोस्लाव अल्प-संख्यकों के साथ बहुत अच्छा बर्ताव करते थे। इसकी कुल आबादी १ करोड़ ५२ लाख थी। जेकोस्लोवाकिया के सुडेटनलैंड में ही अधिकांश जर्मन रहते थे। नाजी प्रेसों ने जोरदार प्रचार करना आरम्भ किया कि जेक सरकार जर्मनों पर पाशविक अत्याचार कर रही

है। हिटलर ने सुडेटनलैंड का अच्छा बहाना खोज निकाला। अन्यथा इटली में ७५० हजार जर्मनो को उनकी भाषा सीखने तक का अधिकार नहीं था। अब यह बात स्पष्ट हो गई कि वह सुडेटनलैंड पर आक्रमण करेगा। फ्रांस ने यह देख कर घोषणा की कि जर्मनी यदि जेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण करेगा तो वह जेकोस्लोवाकिया की सहायता करेगा। रूस ने भी फ्रांस की सहायता की घोषणा की। इस बात से जेकोस्लोवाकिया के नेता डा० बेनस को धैर्य बधा और वह दृढता पूर्वक शासन करने लगा। किन्तु सितम्बर सन् १९३८ के प्रारम्भ में नूरेम्बर्ग में नाजी कांग्रेस का अधिवेशन हुआ और इसमें हिटलर ने घोषणा की कि अगर जैक सरकार ३० सितम्बर तक सुडेटन लैंड को जर्मनी के हवाले नहीं कर देगी तो जर्मनी जेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर देगा। हिटलर की उक्त घोषणा सुन कर ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधान मंत्री चेम्बरलेन हिटलर से भेंट करने के लिये बर्लिन गये। आपने हिटलर को आश्वासन दिया कि १५ दिन के भीतर ही सुडेटनलैंड जर्मनी को लौटा दिया जायगा। किन्तु शर्त यह है कि जर्मनी का यूरोप में और कोई भाग नहीं रहेगा। और इस प्रकार के झगड़ों का निवटारा एक गोलमेज सम्मेलन द्वारा किया जायगा। चैम्बरलेन की बात हिटलर तथा जैक सरकार दोनों ने मान ली और बिना किसी रक्तपात के सुडेटनलैंड जर्मनों को मिल गया। इसके कुछ दिनों के बाद ही जर्मनी ने स्लोवाकिया पर भी अधिकार जमा लिया। डा० बेन्स देश छोड़कर भाग गये। इसके बाद जर्मनी ने मैमललैंड पर भी अधिकार कर लिया। इस जीत से जर्मनी को जेकोस्लोवाकिया के हवाई जहाज तो प्राप्त ही हुये साथ ही उसका हौसला और अधिक बढ़ गया। यहीं से संसार के दूसरे विश्वव्यापी युद्ध का आरम्भ हुआ।

स्पेन के मामले में हिटलर का स्थान:—

पिछले महायुद्ध के बाद साम्यवाद का बोलबाला यूरोप के प्रायः सभी देशों में फैल चुका था। स्पेन इससे वंचित नहीं रहा। सन् १९३१ में वहा की रिपब्लिकन पार्टी का आन्दोलन अत्यन्त उग्र हो गया।

जेनरल फ्रैंको इसका नेता बन गया। उसने सैनिक ढंग पर अपने दल का संगठन किया। सन् १९३६ में उसने स्पेन सरकार को नोटिस दिया कि वह उसके लिये त्यागपत्र दे दे अन्यथा वह आक्रमण करेगा। स्पेन सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया। फलस्वरूप स्पेन में गृह-युद्ध आरम्भ हो गया। संसार के देशों ने यही उचित समझा कि स्पेन के गृह-युद्ध में कोई अन्य देश सम्मिलित न हो किन्तु जर्मनी तथा इटली ने फ्रैंको को धन जन तथा शस्त्रास्त्रों से सहायता पहुँचाई और रूस ने स्पेन की सरकार की सहायता। लड़ाई दो वर्ष तक चलती रही अन्त में फ्रैंको विजयी हुआ। स्पेन की दशा इस युद्ध से इतनी खराब हो गई थी कि इस युद्ध में वह सर्वथा तटस्थ रहा।

मुसोलिनी का इटली

सन् १९१४ के महायुद्ध में इटली इस आशा से मित्रराष्ट्रों की ओर से लड़ा कि उसे अल्बानिया, टर्की का एडालिया तथा जर्मनी के अफ्रिकन साम्राज्य प्राप्त हो जायेंगे। किन्तु दुर्भाग्यवश इटली के ७ लाख सैनिकों के मारे जाने तथा युद्ध में अगार धन जन की क्षति के बावजूद उसे उसके मनोवाञ्छित प्रदेश नहीं मिल सके। मित्रराष्ट्रों ने सन्धि परिषद् में केवल उसे दो एक छोटे मोटे प्रदेश ही दिये। मित्रराष्ट्रों की इस कार्यवाही से इटली में घोर निराशा की लहर दौड़ गई। लोगों का इटली की तत्कालीन सरकार के प्रति असन्तोष बहुत बढ़ गया। उन दिनों इटली की सरकार पुराने विचार के लोगों के हाथ में थी। परिणाम यह हुआ कि वहां नेशनलिस्ट, फासिस्ट तथा बालशेविस्ट नाम से अनेकों संस्थायें बन गईं और इटली षड्यन्त्रों हत्याओं तथा राजनैतिक दंगों का घर बन गया। हड़तालें नित्य प्रति होने लगीं।

सन् १९२१ में फासिस्ट दल का विकास हुआ और इस दल के

लगभग २१ प्रतिनिधि इटली की व्यवस्थापिका में निर्वाचित हुये। मुसोलिनी इन्हीं प्रतिनिधियों में एक था। फासिस्टों का दल फिर भी एक असंगठित एवं अनुशासनहीन दल था। मुसोलिनी ने नीतिविरोध के फलस्वरूप इस दल से इस्तीफा दे दिया। किन्तु बाद में फ़ासिस्ट दल ने उसे फिर से अपना नेता चुन लिया।

सन् १६२८ में उसने घोषणा की कि वह राजतन्त्रवादी है और इटली से बालशेविकों की जड़ हिला कर ही दम लेगा। इस वर्ष मुसोलिनी के दल ने बालशेविकों के साथ खुल कर झगड़ा किया और उनको खूब पीटा। मुसोलिनी के दल में इस समय हजारों नौजवान सम्मिलित हो गये थे। उनकी समुचित रूप से कवायद होती थी। उसने घोषणा कर दी कि २७ अक्टूबर को वह अपनी सेना के साथ इटली की ओर कूंच करेगा। इस घोषणा से डर कर प्रधानमन्त्री ने अपना इस्तीफा दे दिया। तत्कालीन राजा विक्टर ने झगड़े का अन्त करने के लिये उसे मंत्रिमण्डल बनाने के लिये आमंत्रित किया। इसने निश्चित तिथि पर ५० हजार सैनिकों के साथ रोम की ओर कूच किया और रोम में पहुँचते ही उसने एक फासिस्ट मन्त्रिमंडल बनाया जिसमें अन्य दलों के भी १५ सदस्य सम्मिलित थे।

मन्त्रि मण्डल स्थापित करते ही इसने इटली की नियमित सेना में अपने दल के स्वयं सेवकों को भर्ती कर दिया और फासिस्ट दल को अधिकार दे दिया कि वह अन्य दलों के साथ चाहे जैसा बर्ताव करे। परिणाम यह हुआ कि इटली से सभी दल लुप्त हो गये और फासिस्टों का विरोध करने वाला कोई भी नहीं रहा।

राष्ट्र निर्माण का प्रथम कार्यः—

इटली उन दिनों एक अत्यन्त दरिद्र देश था। इसका अधिकांश भाग पहाड़ी एवं उपजाऊ न होने के कारण इसे सदैव विदेशों पर निर्भर

रहना पडता था। इटली से फल, शराब, शीशा लकड़ी का निर्यात अवश्य होता था किन्तु यह मात्रा आयात से सदैव कम रही। युद्ध के कारण विदेशी यात्रियों का आना जाना भी रुक गया। इस कारण उसकी आय का एक भाग ऐसे ही बन्द हो गया। इटली की इस दयनीय दशा को दृष्टि में रख कर मुसोलिनी ने निम्न तीन काम किये:—

(अ) गेहूं के उत्पादन में वृद्धि।

(ब) कोयले की कमी पूरी करने के लिये बिजली का उत्पादन।

(स) हड़तालों का रोकना।

उत्पादन की वृद्धि के लिये मुसोलिनी ने व्यापार संघ को हटाकर उनके स्थान पर श्रमिकों तथा पूंजीपतियों के संघ को प्रोत्साहन दिया। श्रमिकों को प्रोत्साहन देने का परिणाम भी फासिस्टों के लिये बहुत अच्छा हुआ। प्रायः सभी व्यापार पर फासिस्ट दल का नियंत्रण हो गया। इस कार्यवाही के बाद मुसोलिनी ने कृषि व्यापार बैंक, बीमा सामुद्रिक यातायात के लिये भी सभायें बनाईं और उन्हें 'कारपोरेशन की राष्ट्रीय सभा' नामक संस्था के अन्तर्गत कर दिया।

मुसोलिनी के अधिकारों की सीमा:—

मंत्रिमण्डल स्थापित करते ही मुसोलिनी ने अपने हाथ में असीम शक्ति लेली। उक्त कार्यवाही से उसने शासन विधान में परिवर्तन कर दिये। अब वह केवल सम्राट के प्रति ही उत्तरदायी समझा जाने लगा। उसने इसके साथ ही एक और नियम बनाया जिसके अनुसार मन्त्रि-मण्डल ही कानून बना सकते थे। अब पार्लियामेंट के स्थान पर ग्रैंड फासिस्ट कौंसिल (सर्वोच्च फासिस्ट सभा) का बोलबाला हो गया। सन् १९२९ में शासन विधान एक दम बदल गया जिसके अनुसार लोक सभा कारपोरेट चैम्बर कहलाने लगी। इसकी सदस्यता भी बड़ी विचित्र ढंग से प्राप्त की जाने लगी। ग्रैंड फासिस्ट कौंसिल ने ४०० नामों की एक

तालिका तैयार करली थी और देश भर के व्यापार संघों से पूछा जाता था कि आप लोग इसे स्वीकार करते हैं अथवा नहीं। मन दांना इसे स्वीकार करने का विवश थे। कारपोरेट चैम्बर इस प्रकार एक 'निर्जीव सभा थी। सारा अधिकार ग्रैंड फासिस्ट सभा के हाथ में था। उक्त कौंसिल में मुसोलिनी तथा उसके मन्त्रि मण्डल के सदस्य ही रहते थे।

फासिस्ट तथा उनके क्षेत्र—मुसोलिनी ने शासन सत्ता प्राप्त करते ही अपने दल की काया पलट करदी। इसने इसके प्रचार के लिये सभी संभव उपायों से काम लिया। यहां तक कि बालक केवल स्कूलों में पढ़ सकते थे जो फासिस्टों द्वारा संचालित थे। पाठ्य पुस्तकें भी फासिस्टो द्वारा ही लिखी हुई होती थीं। स्कूल में मुसोलिनी की फाटो टंगी रहने के अतिरिक्त यह भी लिखा रहता था कि मुसोलिनी सदैव ठीक है। १८ वर्ष का छात्र फासिस्टदल का सदस्य बन सकता था। प्रत्येक इटालियन प्रोफेसर को नियुक्ति के समय राजा तथा फासिस्टों के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी। समाचार पत्रों को स्वेच्छा पूर्वक कुछ छापने की अनुमति नहीं थी। प्रायः सभी पत्रों का शीर्षक एकसा ही होता था। फासिज्म की परिभाषा बतलाते समय मुसोलिनी ने बतलाया है कि फासिज्म अन्तर्राष्ट्रीय नहीं है, और न साम्यवाद ही। इसे प्रजातंत्र कहना भी भूल है। शांतिवाद को यह कभी स्वीकार नहीं करता क्योंकि युद्ध की उपयोगिता में इसका विश्वास है।

फासिस्ट दल तथा पोपः—

मुसोलिनी स्वयं भी कैथोलिक था और उसके दल के अधिकांश व्यक्ति भी धर्म से रोमन कैथोलिक थे। किन्तु वह नहीं चाहता था कि पोप धर्म में हस्तक्षेप करे। सन् १९२९ में इस संबंध में पोप के साथ उसका समझौता भी हुआ। किन्तु कई बार उसका पोप के साथ अनबन भी हुई। चूंकि प्रत्येक बालचर को १४ वर्ष की अवस्था में मुसोलिनी के प्रति निष्ठा की शपथ लेनी पड़ती थी इस लिए पोप ने शिकायत की

कि इस प्रकार की शिक्षा से बालकों को धर्म के प्रति निष्ठा नहीं हो पाती है। मुसोलिनी ने इससे चिढ़कर कैथलिकों की प्रमुख शिक्षण संस्था 'एजन कटोलिका' को बन्द कर दिया। बड़े अनुनय विनय के पश्चात उसने उस संस्था को सन् १९३१ में खोल दिया। किन्तु फिर पोप उसके सामने निर्बल हो गया।

विदेश नीतिः—

मुसोलिनी प्रारंभ से ही अपना साम्राज्य विस्तार करने का हामी था। इसी दृष्टिकोण से इसने काम भी किया। पाच इटालियनों की हत्या के तथा कथित आरोप में उसने यूनान के एक टापू काफू से भारी हर्जाना वसूल किया। फ्यूम को इसने स्वतंत्र नगर मानने से इनकार कर दिया। महायुद्ध के हर्जाने का बहाना लेकर इसने अल्बानिया पर सन् १९३८ में आक्रमण कर दिया और उसे अपने अधिकार में कर लिया। फ्रांस में लगभग १० लाख इटालियन मजदूर काम करते थे इनकी समस्या को लेकर उसने फ्रांस के मामले में हस्तक्षेप किया। परिणाम यह हुआ कि इसने आस्ट्रिया के साथ एक संधि की और फ्रांस के साथ इसकी कटुता बढ़ने लगी। कहा जा चुका है कि साम्राज्य विस्तार की मुसोलिनी में काफी लोलुपता थी इस लिये इसने अपनी सेना को बहुत बढ़ाया और इसी कारण दुनिया की महान शक्तियों में गिना जाने जाने लागा।

आर्थिक उन्नतिः—

मुसोलिनी चाहे अन्य देशों के प्रति कितना ही अत्याचारी क्यों न हो उसने अपने देशवासियों को आर्थिक दृष्टि से ऊंचा बनाने का सदैव प्रयत्न किया। कृषि की उन्नति के लिये उसने नये २ खाद बनाये। फल स्वरूप सन् १९३५ तक इटली गेहूं इस परिमाण में उत्पन्न करने लग गया कि उसकी आवश्यकतायें स्वतः पूरी होने लगी।

बिजली का उत्पादन करोड़ों रुपये व्यय कर बढ़ाया गया। ४०० मील लम्बी सड़कें बनी, ११ हजार स्कूल खोले गये, ५० सरकारी मकान बनाये गये। इसी प्रकार बन्दरगाहों के निर्माण पर भी अनेकों रुपये व्यय किए गए। इतना होते हुए भी इटली के पास लोहा, कोयला तथा तेल का अभाव था। इसको पूरा करने के लिए इस ने एबीसीनिया से सन् १९२८ में एक सन्धि भी की। और अन्त में उसने उस सन्धि को एक दिन संसार के सामने तोड़ कर उस पर आक्रमण भी कर दिया।

राष्ट्र संघ की कमजोरियाँ मुसोलिनी भली प्रकार जानता था। उसने अक्टूबर सन् १९३५ को एबीसीनिया पर आक्रमण भी कर दिया। किन्तु मित्रराष्ट्रों के कान पर जूं भी नहीं रेंगी। अगर संसार के अन्य राष्ट्र चाहते तो इटली का आर्थिक बहिष्कार कर एबिसीनिया के युद्ध बन्द कर सकते थे। किन्तु किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। इसके प्रतिकूल जब सन् १९३६ में इसने एबिसीनिया पर विजय प्राप्त करली तो राष्ट्र सघ ने एबिसिनिया को इटली का उपनिवेश मान लिया।

मुसोलिनी को एबिसिनिया के आक्रमण के समय हिटलर का समर्थन प्राप्त था; इस लिए दोनों तानाशाह मित्र हो गए। और जब हिटलर ने युद्ध घोषित की तो इटली इसके साथ था। कहा जा सकता है कि हिटलर और मुसोलिनी सच्चे-मित्र थे। इस महायुद्ध में जर्मनी के पतन के बाद हिटलर एक पहेली बन गया और मुसोलिनी पकड़ा गया तथा गोली का शिकार बना दिया गया। आज का इटली निस्सन्देह मुसोलिनी का इटली नहीं है पर कभी था मुसोलिनी का फासिस्ट इटली का अस्थि पंजर पड़ा है। मित्र राष्ट्रों ने अपनी विजय के फलस्वरूप इटली का शासन ही बदल दिया है और वे ऐसा समझ रहे हैं कि इटली से फासिस्टवाद तो लोप हो गया है। इस युद्ध में जर्मनी और इटली दोनों ही समान रूप से क्षतिगस्त हुये हैं।

ब्रिटेन

ब्रिटेन की गणना आजकल के प्रमुख प्रजातन्त्रीय देशों में की जाती है किन्तु यदि प्रजातन्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो प्रजातन्त्र के इसमें कई गुण नहीं मिलते। ब्रिटेन का शासक वैधानिक सम्राट है। उसको शासन के मामले में विशेषाधिकार प्राप्त हैं किन्तु उनका वह कभी उपयोग नहीं करता है। देश की व्यवस्था पर विचार करने के लिये दो सभायें—लोकसभा (House of Commons) तथा लार्ड सभा (House of Lords) हैं। इनमें लोकसभा ही प्रमुख सभा है हालांकि लार्ड सभा के कुछ सुरक्षित अधिकार हैं। देश का शासन इन सभाओं द्वारा ही होता है। ब्रिटेन का साम्राज्य बहुत दूर २ तक फैला हुआ है यहाँ तक कि इसके बारे में कहा जाता है कि ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता। निस्सन्देह यहां की शासन सत्ता कामन सभा के हाथ में है किन्तु इस बात को कदापि नहीं भुलाया जा सकता कि यह एक पूँजीवादी देश है। देश का ६० प्रतिशत सम्पत्ति का मालिक यहाँ के दो प्रतिशत लोग हैं। सब से आश्चर्य की बात तो यह है कि इस देश की आबादी ६ करोड़ होते हुये भी यह ५० करोड़ जनता के ऊपर शासन करता है। इस देश में अन्न इतना नहीं होता कि वहाँ के लोगों को भर पेट भोजन प्राप्त हो सके। फिर भी विदेशों के साथ व्यापार कर यह देश अपनी रोटी प्राप्त करता है। ब्रिटेन कृषि प्रधान देश न होकर एक औद्योगिक देश है। विभिन्न उतार भाटों का सामना करने के पश्चात आज की स्थिति में पहुँच सका है कि इस युद्ध के पूर्व इस देश ने अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये ही सन १९१४ में युद्ध में भाग लिया। इसके बाद से इस देश की सारी स्थिति ही बदल गई।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है ब्रिटेन को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विदेशी आयात पर निर्यात पर निर्भर रहना पड़ता है।

यह विदेशों को पक्का माल तथा खनिज पदार्थ भेजता है। यहा की आबादी का २० प्रतिशत निर्यात का माल तैय्यार करता है। अपनी आवश्यकता का ५० प्रतिशत भोजन तथा ८० प्रतिशत कच्चा माल वह विदेशों से मंगाता है। यही कारण है कि उत्तर मध्य पूर्व में कहीं एक कोयले की नई खान खुदनी शुरू हो जाय अथवा चीन या भारत में लोहे का एक नया कारखाना खुल जाय तो यहा के धनिकों के कान खड़े हो जाते हैं १६ वीं शताब्दी तक का इंगलैंड का इतिहास जीवन के प्रबल संघर्ष का इतिहास है। २० वीं शताब्दी में ब्रिटेन का इतिहास एक नवीन रूप धारण कर दुनिया के समक्ष उपस्थित होता है।

महायुद्ध के बाद ब्रिटेन

सन् १९१९ में महायुद्ध समाप्त हो जाने पर ब्रिटेन के लोगों ने जी खोलकर अपनी पूंजी व्यापार में लगाई। किन्तु साल के अन्त में हिसाब करने पर मालूम पड़ा कि देश में बेकारी बहुत ज्यादा बढ़ रही है। यहां तक कि यह संख्या १९२१ में १० लाख की हो गई है। इसका कारण खोजने पर मालूम हुआ कि इंगलैंड का निर्यात गिर जाने के कारण ही ऐसी स्थिति पैदा हुई है। जापान तथा भारतवर्ष में कपड़े के कारखाने खुलने और आस्ट्रिया में ऊन उत्पादन के अनेक साधन हो जाने से ब्रिटेन को खूब धक्का लगा। साथ ही जर्मनी से प्राप्त कोयले को फ्रांस इतने अधिक सस्ते दाम पर बेचने लगा कि अब किसी को ब्रिटेन के कोयले की आवश्यकता ही नहीं रही। रूस में समाजवादी सरकार स्थापित हो जाने के कारण रूस में लगी हुई ब्रिटेन की पूंजी की क्षतिपूर्ति बिल्कुल नहीं मिली। परिणाम स्पष्ट था। इंगलैंड के कारखाने इन परस्थितियों में बन्द होने लग गये और बेकारी १९२१ के अन्तिम सात महीनों में १० लाख से २० लाख पहुँच गई। सरकार ने बेकारी के हल के लिये लोगों को कुछ रुपया अवश्य दिया किन्तु इससे संकट टाला नहीं जा सका। इस समस्या के हल के लिये सन् १९२३ में

लार्ड जार्ज के मंत्रिमंडल की इतिश्री हो गई और देश का शासन-सूत्र अनुदार दल के हाथ में आ गया।

अनुदार दल का नेतृत्व

अनुदार दल ने शक्ति ग्रहण करते ही इस बात की ओर ध्यान दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन तथा बैंकिग में लन्दन की महत्ता पुनः स्थापित की जाय। इसका अभिप्राय यह था कि विदेशों में इंगलैंड की पूंजी अधिक लाभ के साथ लगाई जा सके। मुद्रा का मूल्य बढ़ाने के लिये कई और कारण देखे गये उनमें से प्रमुख यह था कि इंगलैंड के मज़दूरों का वेतन कम किया जा सके। पर यह सब कुछ कठिनाइयों से भरा पड़ा था। इंगलैंड ने अमेरिका से ३० लाख रुपया ऋण ले रखा था। इस ऋण को चुकाने के लिये इस बात की आवश्यकता समझी गई कि औद्योगिकों पर भारी कर लगाया जाय। इसी समय ब्रिटेन ने कई राष्ट्रीयकर जारी किये। सन् १९२५ में ब्रिटेन के अर्थ-शास्त्रियों ने बड़ी कुशलता दिखलाई और स्वर्ण-स्तर (Gold Standard) जारी कर दिया और इसके अनुसार १ पौंड के बदले में सोने की एक निश्चित मात्रा देने का उत्तरदायित्व सरकार ने अपने सिर पर लिया। परिणाम यह हुआ कि लन्दन पुनः आर्थिक दृष्टि से उन्नत बन गया।

मजदूरों की पहली सरकार

ब्रिटेन एक औद्योगिक देश है। इसलिये इसमें मजदूरों के हितों की रक्षा करना सरकार अपना कर्तव्य समझती है। लेकिन वहाँ के मज-दूर केवल सरकार के भरोसे ही नहीं रहते, उनका एक दृढ संगठन है। इस संगठन को मज्दूर दल कहते हैं सन् १९२४ में मजदूर दल आज जैसा सशक्त नहीं था। किन्तु आज निर्वाचन में मजदूर दल को १९१ स्थान प्राप्त हुये। जबकि अनुदार दल को २५८ तथा उदार दल

को १५७ मत प्राप्त हुये। निर्वाचन के पूर्व अनुदार दल ने तटीय कर बढ़ाने की घोषणा की थी। मजदूर तथा उदारदली इसके विरुद्ध थे इसलिये अनुदारदली प्रधानमंत्री बाल्डविन को अपना त्यागपत्र देना पड़ा और इनके स्थान में मजदूर दली मंत्रिमंडल रैमजे मैक-डोनल्ड के प्रधान मंत्रित्व में स्थापित हुआ किन्तु यह समाज वादी ढंग पर मजदूरों की दशा में सुधार करना चाहता था इसलिये अधिक दिनों तक टिक नहीं सका और दूसरी बार निर्वाचन में अनु-दार दल पुनः विजयी हुआ।

मजदूरों की हड़ताल

सन् १९२५ वा वर्ष ब्रिटेन के लिये बड़ा संकटपूर्ण समय था। सरकार ने विदेशी कर्ज को चुकाने का और तटीयकर को बढ़ाने का निश्चय किया था। इसके लिये उसको कई मार्गों का अनुसरण करना पड़ा। सबसे बड़ा क्रान्तिकारी कदम जो सरकार ने इस दिशा में उठाया वह एक कानून द्वारा मजदूरों के वेतन में १३॥ प्रतिशत कमी कर देना था। इससे वहा की मजदूर जनता क्षुब्ध हो गई और उन्होंने ४ मई को हड़ताल करदी। इस हड़ताल में २५ लाख मजदूर सम्मि-लित थे। किन्तु जनता की सहानुभूति इन्हें प्राप्त नहीं हो सकी। सरकार ने इनकी हड़ताल को गैर कानूनी ठहराया और हड़ताली २१ मई को बिना किसी शर्त के काम पर लौट आये। इस हड़ताल में इंगलैंड को २ अरब ३० लाख की क्षति हुई।

राष्ट्रीय सरकार की स्थापना

सन् १९२९ में मजदूर दल के हाथ में शासन सत्ता आ गई। रैमजे मैक डोनल्ड इस दल के प्रधान मंत्री थे। इस समय अनुदार दली दृष्टिकोण तथा आप में कोई विशेष अन्तर नहीं था। सन् १९३० तथा १९३१ का वर्ष ब्रिटेन के लिये आर्थिक संकट का वर्ष था।

निस्सन्देह उस समय ब्रिटेन की चर्चा का विषय भारतीय राजनैतिक हलचलें थीं। किन्तु देश के आन्तरिक संकट को देखकर ब्रिटेन ने गोल मेज सम्मेलन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इन्हीं दिनों यहाँ राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई। राष्ट्रीय सरकार ने अपने लिये दो कार्यक्रम स्थिर किये:— स्वर्ण स्तर को हटाना तथा प्रत्येक विभाग के मंत्रियों को अपने अपने विभाग में मितव्ययता करने के लिये प्रोत्साहन देना। इस समय के इंगलैंड की दशा का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सगता है कि इसके पास ५ करोड़ ५० लाख पौंड सोना था जबकि उसे २५ करोड़ पौंड सोना विदेशों को देना था।

इन्हीं परस्थितियों में इगलैंड में नया निर्वाचन हुआ। इस बार भी राष्ट्रीय सरकार ने शक्ति प्राप्त करली। लगभग ५५६ स्थानों पर राष्ट्रीय सरकार के सदस्य विजयी हुये और विरोधी दल को केवल ५६ स्थान प्राप्त हुये। इस नई सरकार के प्रधान मत्री रैमजे मैकडोनल्ड ही रखे गये। किन्तु कुछ समय के बाद आपको त्याग पत्र देना पड़ा और आपके स्थान पर बाल्डविन प्रधान मंत्री नियुक्त हुये। इस राष्ट्रीय सरकार ने सबसे बड़ा कार्य यह किया कि ३० लाख रुपयों के युद्ध कर्ज के सूद को ५ प्रतिशत से घटाकर ३॥ प्रतिशत कर दिया। विदेशी खाद्य पर कर लगाकर देश की उपज को बढ़ाने की चेष्टा की गई, जिसके फलस्वरूप ब्रिटेन एक बार पुनः समृद्धिशाली देश बन गया। देश को समृद्धिशाली बनाने में जनता का पूर्ण हाथ था। सरकार ने कर्मचारियों के वेतन में कमी की, जनता पर कई प्रकार के कर लगाये किन्तु किसी ने चूं तक नहीं किया।

सन् १९३५ में इगलैंड में नया निर्वाचन हुआ इस निर्वाचन में राष्ट्रीय सरकार को ४२८ स्थान प्राप्त हुये। इस समय तक यूरोप में अशांति के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लग गये थे। इस लिए इस राष्ट्रीय सरकार ने सैनिक संगठन की ओर अपना ध्यान दिया।

अष्टम एडवर्ड का सिंहासन त्याग

सन् १९३६ में ब्रिटिश सम्राट पंचमजार्ज का देहान्त हो गया। उनके स्थान पर उनके बड़े लड़के अष्टम एडवर्ड के नाम से सम्राट बने। आप एक स्वतंत्र बुद्धि के व्यक्ति थे। आपने अपने प्रथम भाषण में ही हम की जगह मैं का प्रयोग किया इसके बाद आपने एक अमेरिकन अभिनेत्री वालिस सिमसन से शादी करनी चाही। आपका कहना था कि मुझे अपनी पत्नी चुनने का अधिकार है। इस मामले में पार्लियामेंट हस्त-क्षेप नहीं कर सकती। किन्तु पार्लियामेंट का कहना था कि अगर सम्राट को अपने लिये पत्नी चुनने का अधिकार है तो हमें भी अपने लिए साम्राज्ञी चुनने का अधिकार है। इस प्रकार अष्टम एडवर्ड ने कहा मैं इस गद्दी को ठुकरा सकता हूँ किन्तु वालिस सिमसन को नहीं छोड़ सकता। आप अपनी बातों के धनी निकले और आपने अन्त में राज-गद्दी का त्याग कर श्रीमती सिमसन से शादी कर ही ली।

षष्ठम जार्ज का सिंहासनारोहण

अष्टम एडवर्ड के बाद आपके छोटे भाई जार्ज षष्ठम के नाम से गद्दी पर बैठे। इस समय का वातावरण काफी गरम हो चुका था। इधर संसार अष्टम एडवर्ड के गद्दी त्याग पर आश्चर्य ही कर रहा था कि सब को बाल्डविन ने अपने कार्य से अवकाश ग्रहण कर पुनः आश्चर्य में डाल दिया। आपके बाद ब्रिटेन के प्रधान मंत्री नेवाइल चैम्बरलेन नियुक्त हुए। इस समय तक यूरोप बारूद के एक बृहत भंडार की तरह हो चुका था। जर्मनी द्वारा सूडाटन लैंड की माग ने इसमें दिय-सलाई का काम किया और आग लगती दीख पड़ी। मि० चैम्बरलेन ने इसे बुझाने की चेष्टा से बर्लिन की यात्रा भी की किन्तु असफल रहे और यह द्वितीय महायुद्ध हो कर ही रहा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मि० चैम्बरलेन की कार्यकुशलता से युद्ध एक वर्ष के लिये टल गया किन्तु अन्त में होनी होकर ही रही है।

ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति

महायुद्ध में उपनिवेशों ने ब्रिटेन को जो सहायता पहुँचाई थी उसके प्रति कृतज्ञता प्रगट करने के लिये सन् १९२६ में एक औपनिवेशिक सम्मेलन में घोषणा की गई कि अंग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्गत उपनिवेश तथा इंगलैंड स्वाधीन राष्ट्र हैं। सन् १९३१ में ब्रिटिश सरकार ने नियमित रूप से उक्त घोषणा को स्वीकार करली। घोषणाओं की बातें करने में ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इतने पटु होते हैं कि वे एक ही घोषणा को स्वेच्छा पूर्वक जिस प्रकार चाहें अर्थ लगा लेते हैं। तात्पर्य यह कि इनकी घोषणायें कुछ पर लागू होती हैं और कुछ पर तो लागू की ही नहीं जातीं।

आयरलैंड की स्वतंत्रता

आयरलैंड ब्रिटेन के पास एक ब्रिटिश उपनिवेश था। वहाँ के लोगों ने महायुद्ध के बाद स्वातंत्र्य आन्दोलन छेड़ रखा था। इस आन्दोलन का जोर सन् १९२० में इस प्रकार बढ़ा कि सन् १९२१ में आयरलैंड को औपनिवेशिक स्वतंत्रता दे दी गई। अलस्टर ब्रिटेन के साथ रहना चाहता था इसलिये इसे छोड़कर बाकी आयरलैंड के लिये एक पृथक पार्लियामेंट बना दी गई। लेकिन इसके साथ दो शर्तें लगा दी गईं:—

(१) आयरलैंड के मंत्रियों को राजनिष्ठा की शपथ लेनी पड़ेगी (२) आयरलैंड प्रतिवर्ष ७ करोड़ रु० इंगलैंड को देगा।

आयरलैंड के अधिकांश नेता इस नई संधि से सहमत थे। किन्तु डी वेलरा इसे स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं था। फिर भी आयर में एक नई सरकार स्थापित हो गई और उसने डी वेलरा को जेल में डाल दिया। सन् १९२७ में डी वेलरा के दल ने नये शासन विधान को स्वीकार कर लिया और डी वेलरा आयरलैंड का प्रधान मंत्री बन गया। इसने प्रधान मंत्री होते ही आयरलैंड में अंग्रेजी के बजाय आय-

रिश भाषा जारी कर दी। सम्राट के प्रति निष्ठा दिखलाना तथा इंगलैंड को ७ करोड़ रुपये देना भी बन्द कर दिया, और फिर यहा राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रणाली जारी कर दी गई। इंगलैंड से ही वेलरा को अन्त में ब्रिटेन के साथ सन्धि करने को विवश होना पड़ा।

संयुक्त राष्ट्र अमेरिका

वर्तमान अमेरिका के ४० प्रतिशत लोग अंग्रेजों के, १८ प्रतिशत जर्मनों के तथा ४३ प्रतिशत लोग अन्य राष्ट्रों के वंशज हैं। अमेरिका एक धनी देश है। यहा पर संसार की आवश्यकता का तिहाई भाग कोयला, आधा भाग लोहा, आधा भाग रुई, तीन चौथाई मक्का तथा दो तिहाई पैट्रोल का उत्पादन होता है। यहा के लोग बड़े विलासी होते हैं। वाणिज्य व्यवसाय में ये लोग बड़े कुशल होते हैं। गत महायुद्ध में जबकि संसार के सभी देश लड़ने में लगे हुये थे यह व्यापार करने में व्यस्त था। इसे एक दुर्घटना ही कहना चाहिये कि अमेरिका का एक जहाज जर्मनी द्वारा डुबा दिया गया और इसके विरुद्ध अमेरिका को गत महायुद्ध में खिंच आना पड़ा।

अमेरिका में विभिन्न ४८ रियासतें सम्मिलित हैं जो एक ही प्रकार के नियम तथा कानून से शासित हैं। रंग भेद तथा भाषा की विचित्रता भी यहां भारत की भांति ही देखने को मिलती है किन्तु इतना होने पर भी अमेरिका एक है और उसकी स्वतंत्रता को आंच नहीं आने पाती। वहा भी कई राजनैतिक दल हैं। जिनमें से डेमोक्रेटिक तथा रिपब्लिकन दल प्रमुख हैं। प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के पूर्व—अर्थात् सन् १६१३ से सन् १६१६ तक अमेरिका में डेमोक्रेटिक दल का बोलबाला था। किन्तु फिर यहां रिपब्लिकन दल जोर पकड़ने लगा। डेमोक्रेटिक दल का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय मामले में उदार था किन्तु रिपब्लिकन दल मनरो सिद्धान्त का समर्थक था और उसका कहना था कि अमेरिका को अन्तर्राष्ट्रीय माकले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

विल्सन को निराशा

गत यूरोपीय महायुद्ध में अमेरिका ने १५ लाख सैनिक भेजे। जर्मनी हार गया। किन्तु विल्सन इस पक्ष में थे कि विजित जर्मनी के साथ कोई ज्यादती न की जाय। किन्तु वर्साई में उनकी एक भी न चली और आप हाथ मलते रह गये। यहा आप केवल एक राष्ट्र संघ नाम की निर्बल एवं निष्प्राण संस्था कायम कर सकने में ही सफल हो सके थे। वर्साई में आपने डेमोक्रेटिक दल के नेता की हैसियत से भाग लिया था किन्तु आप जब अमेरिका वापिस आये तो सारी दशा ही बदल चुकी थी। आपके निर्णयों को ही अमेरिकनों ने मानने से अस्वीकार कर दिया। इस बात से आपको बड़ी भारी निराशा हुई और आपको इस बात से इतना धक्का लगा कि एक बार रोगग्रस्त हो कर पुनः नहीं उठ सके।

मनरो सिद्धान्त

ऊपर बतलाया गया है कि रिपब्लिकन दल मनरो सिद्धान्त का समर्थक था। मनरो अमेरिका के भूतपूर्व प्रेसीडेन्ट थे। आपका कहना था कि अमेरिका अन्य राष्ट्रों के मामले में नहीं पड़ना चाहता। अमेरिका उन सभी राष्ट्रों की स्वतंत्रता को स्वीकार करता है जिन्होंने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी है और जो उसकी रक्षा कर रहे हैं। अमेरिका यूरोप के राष्ट्रों एवं उपनिवेशों तथा आधीन देशों के प्रति तटस्थता की नीति बरतेगा। किन्तु यदि किसी स्वतन्त्र राष्ट्र को कोई बड़ा यूरोपीय राष्ट्र दबायेगा तो उसकी इस कार्यवाही को अमेरिका अमैत्री पूर्ण समझेगा। यह सिद्धान्त इतना लचीला है कि इसे मन माने ढंग से काम में लाया जा सकता है और अमेरिका ने कई बार इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुये भी इसके विरुद्ध आचरण किया है किन्तु उसे इसी के बिना पर

श्री इन्द्रप्रस्थ विद्यापीठ, धर्मपुरा, दिल्ली
का
शिक्षा-सम्बन्धी कार्यक्रम

१—व्याख्यान—श्री अरुण साहित्य समिति धर्मपुरा दिल्ली के तत्वावधान में साक्षरता तथा साहित्य का प्रचार करने के लिए नगर भर में हिन्दी-सप्ताह मनाये जाते हैं। इनमें वर्ण माला तथा उच्च कोटि के साहित्य का ज्ञान कराया जाता है।

२—साहित्य-प्रकाशन—विद्यापीठ की ओर से प्रति-सप्ताह साहित्य के विभिन्न विषयों पर संक्षिप्त पुस्तके तथा अन्य उपयोगी सामग्री का प्रकाशन किया जाता है जिससे साहित्य प्रेमी घर बैठे उच्चकोटि का ज्ञान प्राप्तकर सकें।

३—लेखन-कला-के द्वारा कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास और निबन्धादि विषयों की रचनात्मक शिक्षा दी जाती है। इस श्रेणी में उच्च-शिक्षा संपन्न व्यक्ति ही भाग ले सकते हैं।

४—दैनिक श्रेणी—हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, वैद्यक, ज्योतिष तथा प्रान्तीय भाषाओं की नियमित शिक्षा देने के लिए दैनिक-श्रेणियों की व्यवस्था है।

५. 'वसुन्धरा' साप्ताहिक में हिन्दी परीक्षा सम्बन्धी उच्च कोटि के लेख, प्रश्न-पत्र और उपयोगी साहित्य का प्रकाशन होता है तथा मासिक में लेख, चित्र, कहानी, कविता नाटक उपन्यास और जीवनचरित्र प्रकाशित होते हैं।

वार्षिक १२) एक प्रति ।)

नमूने की प्रति बिना मूल्य भेजने का नियम नहीं है।

—व्यवस्थापक